चिकोटी

[फुटकल : स्केच]

लेखक

इंद्र शंकर मिश्र एम० ए०

— बुनियादी —

सरस्वती मंदिर : काशी

आश्विन, २००३ वि०

प्रथम संस्करण, ११०१

एक रुपया पंद्रह आने

प्रकाशक—

सरस्वती मंदिर, काशी

मुद्रक—

सरला प्रेस, काशी

समर्पण

अपने तथा परिवार के जीवन रक्षक
प्रिय श्री रवि शंकर जी वैद्य को
यह कृति सादर, सप्रेम, समर्पित।

आभार

पूज्य पंडित विश्वनाथप्रसादजी मिश्र एम० ए०, प्राध्यापक, हिंदी विभाग, हिंदू विश्वविद्यालय, काशी ने 'चिकोटी' की भूमिका ही लिखकर नहीं किंतु सदैव साहित्यिक नेता की भाँति मुझे प्रोत्साहित किया है—मेरी समालोचना की है। मैं पंडितजी का हृदय से कृतज्ञ हूँ।

• • •

अपने बुजुर्ग किंतु साहित्य में हमेशा टटके, बेजोड़ मित्र श्री 'बेढ़बजी' का भी मैं ऋणी हूँ। आप शुरू से बराबर मुझे लिखते रहने के लिए जोर देते रहे हैं। मेरी चीजों को प्रकाश में लाने का श्रेय भी आपको है।

• • •

फिर अपने सभी साहित्यिक मित्रों का आभार मैं स्वीकार करूँ क्योंकि उनकी शुभेच्छाओं से ही मैं पनपा हूँ।

• • •

पुस्तक के प्रकाशन में विशेषकर श्री बटेकृष्णजी एम० ए०, तथा श्री शिवनाथजी एम० ए० और श्रीरामजी वाजपेयी ने मेरा हाथ बटाया है। मैं उनका शुक्रगुजार हूँ।

लेखक

अनुभाविका

वाङ्मय की अभिव्यक्ति या तो पद्य में होती है या गद्य में। कभी कभी मिश्र शैली का भी व्यवहार होता है। भारत का प्राचीन वाङ्मय अधिकतर पद्य में है। पर अब चक्रनेमि ऊपर से नीचे हो गई है। समय बदल गया है। आज वाङ्मय की अभिव्यक्ति में गद्य-पद्धति का व्यवहार अधिक हो रहा है। इतना अधिक कि आधुनिक युग 'गद्य-युग' माना जाता है। प्रत्येक देश के साहित्य में गद्य का प्राधान्य है। निर्माण का अधिकांश गद्य के ही अधिकार में है। पद्य की रचनाएँ परिमाण में कम हो रही हैं। पद्य की रचना में पद अर्थात् चरण के न्यास का विचार करना पड़ता है, छंदोविधान के ज्ञान की अपेक्षा रहती है। आधुनिक युग में पद्य या छंद में भी स्वच्छंदता का व्यवहार होने लगा है। छंद का बंधन तोड़ डाला गया है। स्वच्छंद छंद या मुक्त वृत्त में रचनाएँ की जाने लगी हैं, अर्थात् जो कविता पद्य में लिखी जाती थी वह भी अब गद्य के बहुत निकट पहुँच गई है। नाटकों से पद्यों—का पाठ्य-छंदों का—निष्कासन हो चुका है; कुछ 'गीत', वे भी प्रायः ऊपर से चिपकाए हुए ही, उनमें मिलते हैं। नाटक अब एक प्रकार से गद्य के क्षेत्र की ही वस्तु समझा जाता है। तात्पर्य यह कि गद्य ने पद्य के क्षेत्र में भी प्रवेश कर लिया है;

इसके अतिरिक्त स्वतः उसका जो अपने क्षेत्र में विस्तार हो रहा है वह तो है ही वह परिमाण में भारी हो गया है, प्रयोग में विस्तृत और ग्रहण में व्यापक; अतः 'गद्य-युग' नाम फालतू नहीं है, उसमें सार्थकता है।

शुद्ध साहित्य के अंतर्गत हिंदी में पहले गद्य ने आज्ञा-पत्रों आदि में अपना स्थान किया, फिर पद्यों की टीका के रूप में वह दिखाई पड़ा ; नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध आदि के व्यवहार में आते आते अब उसने अपना बहुत फैलाव कर लिया है। कहानी को उसने बहुत अधिक सहारा दिया। पर सच पूछिए तो उत्कर्ष की दृष्टि से गद्य का क्षेत्र नाटक या उपन्यास अथवा कहानी नहीं है। ये कथात्मक कृतियाँ जीवन के कार्य-कलापों की अभिव्यक्ति करती हैं, उनमें घटना-चक्र ही मुख्य वस्तु होता है। पात्रों की बातचीत और घटनाओं का संविधानक वर्णित कर देने भर के लिए उनमें गद्य की आवश्यकता होती है। गद्य अपनी कसावट, अपनी अर्थ-संपत्ति, अपनी व्यंजना-विधि, अपनी विचार-वीथी का अभिसरण उनमें कहीं कहीं भले ही कर ले, वे उक्त दृष्टियों से उसकी वास्तविक भूमि ही नहीं हैं। अतः गद्य की वास्तविक भूमि 'निबंध' ही ठहरते हैं, जहाँ वह अपनी गुरुता और शक्ति का भली भाँति प्रदर्शन भी कर सकता है और प्रमाण भी दे सकता है। संक्षेप में, जैसे पद्य का वास्तविक क्षेत्र कविता है, वैसे गद्य का वास्तविक क्षेत्र निबंध।

साहित्य की विभिन्न शाखाओं में जीवन के बाह्य और आभ्यतंर दोनों पक्षों की योजना किसी न किसी रूप में बराबर रहती है, केवल मात्रा का भेद होता है। जीवन के बाह्य पक्ष से कार्य-कलाप या वस्तु का संग्रह किया जाता है और आभ्यंतर पक्ष में हृदय तथा बुद्धि का योग रहता है। वस्तु या घटनाओं से सामग्री सज्जित होती है, हृदय अनुभूति की सरसता लाता है और बुद्धि विचार का मार्ग उद्घाटित करती है। नाटक, उपन्यास और कहानी वस्तु-प्रधान रचनाएँ हैं, पर उनमें भी अनुभूति और विचार का विधान गौण रूप से रहता ही है। कविता अनुभूति-प्रधान रचना है, पर उसमें भी वस्तु तथा विचार का अप्रधान रूप से विनियोग किया ही जाता है। निबंध विचार-प्रधान रचना है, पर उसमें भी वस्तु और अनुभूति का यत्र-तत्र प्रयोग होता ही है। संक्षेप में कविता भाव-प्रधान रचना है, आख्यान वस्तु-प्रधान और निबंध विचार-प्रधान।

निबंध में विचार ही मुख्य है, अनुभूति और वस्तु-विधान गौण। पर प्रत्येक कर्ता इस स्वरूप-लक्षण का ध्यान रखकर रचना नहीं करता। कभी अनुभूति की मात्रा बढ़ जाती है तो कभी वस्तु की। विचार थोड़ी देर के लिए दब जाता है, छिप जाता है; पर उसका एकांत लोप कभी नहीं होता। निबंध में यही विचार कभी विषयों के विश्लेषण में विशेष रूप से प्रवृत्त होता है और विषय-प्रधान निबंध, या विस्तार में आकर प्रबंध (थीसिस, ट्रीटीज आदि),

की सृष्टि करता है। कभी बहिर्मुख न रहकर अंतर्मुख होता है तथा व्यक्ति के दायरे से आगे नहीं बढ़ता और व्यक्ति-प्रधान निबंध प्रस्तुत करता है। यद्यपि पश्चिम में पहले विषय-प्रधान निबंधों का ही विशेष चलन था तथापि पीछे से 'कृतित्व' को ही साहित्य का प्रमुख रूप मानकर व्यक्ति-प्रधान निबंधों पर बहुत जोर दिया जाने लगा। 'निबंध' में व्यक्ति ही सब कुछ समझा जाने लगा। वहाँ आत्मव्यंजक (परसनल) निबंधों की अत्यधिक प्रशंसा होने लगी। पर स्मरण रखना चाहिए कि साहित्य की प्रत्येक शाखा का स्वरूप स्पष्ट होने के लिए उसके नियतधर्मा होने की अपेक्षा होती है, यह दूसरी बात है कि कभी कभी उसका अतिक्रमण हुआ करे। आत्मव्यंजक निबंधों के अधिक प्रचलन का परिणाम यह हुआ कि विचार के लिए कोई भी विषय या वस्तु ले ली गई और उस विषय या वस्तु का कुछ भी विवेचन न करके या बहुत थोड़ी व्याख्या करके विषयांतर से काम चलाया गया। जैसे छायावादी कवि अपनी व्यक्तिबद्ध अनुभूति का आरोप करने के हेतु कोई भी वस्तु—चाहे वह तुच्छ से तुच्छ ही क्यों न हो, अनुभूति का भार सँभालने में चाहे वह कितनी ही अक्षम क्यों न हो—सामने रख लेता था वैसे ही आत्माभिव्यंजक निबंध-लेखकों के लिए भी विषय या वस्तु का कोई महत्त्व नहीं रह गया। वे विचार के लिए किसी भी पदार्थ का ग्रहण करने लगे। तात्पर्य यह कि 'निबंध' में भी 'कला' का प्रदर्शन मुख्य हो गया, 'विचार' दबते-दबते बहुत क्षीण हो गया। संक्षेप में, जैसे छायावादी कविता में व्यक्तित्व का आरोप मुख्य हुआ

वैसे ही इन निबंधों में। 'अभिव्यंजनावाद' तो निबंधों को उनकी यथार्थ और प्रकृत भूमि से और दूर खदेड़ ले गया। जो पद्यात्मक काव्य-रचना से किसी हेतु विरत रहते थे वे गद्य में ही ऐसे निबंध लिखकर संतोष-लाभ करने लगे।

इससे जहाँ निबंध के ऊपर, उसके स्वरूप पर, बहुत कुछ परदा पड़ने लगा, वहीं गद्य को नूतन प्रशाखा की उपलब्धि भी हुई। लेखकों ने इस नवीन प्रशाखा में अत्यधिक रचना की और उसे स्वतंत्र शाखा के रूप में स्वीकार करना पड़ा। यही प्रशाखा हिंदी में 'गद्यकाव्य' के नाम से प्रसिद्ध और प्रचलित है। अब स्वतः इसमें भी अनेक प्रकार की रचनाएँ होने लगी हैं, कुछ दिनों में जिनका विवेचन स्वतंत्र रूप से करने की आवश्यकता पड़ेगी; शैलीगत अनेक भेद दिखाई पड़ने लगे हैं। कहीं कहीं इसमें 'वस्तु' या घटनाओं का भी योग रहता है, अतः कुछ लोग इसे कहानियों के अंतर्गत करना चाहते हैं। पर वस्तुतः ऐसा ठीक नहीं। कहानी घटना-प्रधान कृति है। घटना-प्रधान कहने का तात्पर्य यह है कि लेखक पाठक की दृष्टि घटना की ओर ले जाना चाहता है और स्वतः पाठक भी कहानी में घटना-चक्र का ही प्रवर्तन देखने में लगा रहता है। उसकी कुतूहल-वृत्ति सजग रहती है। इसीसे कहानी में सच पूछिए तो कुतूहल-तत्त्व (एलिमेंट आव् सस्पेंस) का विशेष रूप से विनियोग करना पड़ता है। यही उसकी पकड़ भी है। गद्यकाव्य वस्तुतः वह गद्य-रचना है जिसमें

कविता का तत्त्व विशेष रूप से जोड़ लिया गया है। वह 'काव्यात्मक निबंध' है, काव्यात्मक कहानी नहीं। उसमें विचार-तत्त्व का एकांत बहिष्कार नहीं रहता।

अधुना समाचार-पत्रों के प्रसार के साथ ही साहित्य का प्रसार भी लगा हुआ है। कहानियों के अधिक निर्माण में समाचार पत्रों का भी योग है। उनके निमित्त 'लाघव' के विचार से कहानियों का आकार छोटा होने लगा और कहीं कहीं तो वह बहुत छोटा हो गया। लेखकों की रुचि और कौशल के विविध-रूप-प्रदर्शन की हेतुता स्वीकार करते हुए भी यह कहने में कोई संकोच नहीं कि इस 'लाघव' के कारण समाचार-पत्र भी हैं। ठीक इसी प्रकार निबंध के विचार-प्रधान क्षेत्र में भी 'लाघव' की प्रवृत्ति जगी। उसके फलस्वरूप ऐसी विचारबद्ध कृतियाँ भी निर्मित होने लगीं जो रेखा-चित्र या स्थूल चित्र (स्केच) के रूप में सामने आईं। इनमें कहीं तो कुछ शब्दों को ही लेकर विचार-सरणि चली और कहीं व्यक्ति को, कहीं वस्तु को, कहीं भाव को, कहीं स्मृति को तथा कहीं व्यंग्य को। इन स्थूल चित्रों में इसी से अनेक रूप भी दिखाई पड़ने लगे। प्रस्तुत संग्रह में निबंधों का यही 'लाघव' अनेक विषयों, विविध शैलियों और भाषा की भव्य भंगिमा लेकर सामने आया है। सांप्रतिक शब्दावली के ढर्रे पर कहें तो इसमें शब्द-चित्रों, भाव-चित्रों, वस्तु-चित्रों, स्मृति-चित्रों, विचार-चित्रों और अनुकृति-चित्रों का संग्रह है। 'चित्र' शब्द को पूर्ण चित्र का द्योतक न समझकर रेखामात्र का 'स्थूल चित्र' का बोधक मानिए।

साहित्य संगीत और चित्रकला से बराबर सहायता लिया करता है और अधिक भी। संगीतकला की सहायता नाद-सौंदर्य के हेतु होती है और चित्रकला की सहायता रूप-चित्रण के निमित्त। 'रूप-चित्रण' में 'रूप' शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त समझिए। बाहरी और भीतरी, कृति और प्रकृति, व्यक्ति और घटना, हृदय और मस्तिष्क सबकी और सब प्रकार की आकृति के अर्थ में इस शब्द को सकारिए। चित्र कभी पूरा होता है और कभी अधूरा, कभी सांकेतिक होता है और कभी रेखामात्र। कविता में तो इनमें से अनेक प्रकारों का प्रयोग बहुत पहले से होता आ रहा है और अब उसमें सबका समावेश हो चुका। पर संगीत-तत्त्व या नाद-सौंदर्य का वास्तविक क्षेत्र पद्य ही है, गद्य में तो कभी कभी अनुप्रासादि नादमूलक अलंकारों के विधान के रूप में ही यह देखा जाता है। पर चित्र या मूर्तितत्त्व का रूप-विधान दोनों के लिए समान है। इन लघु-काय और लाघव-मूलक निबंधों में वस्तुतः इस चित्र-तत्त्व का विधान रेखामात्र ही होता है। किसी विचार का सोता सहसा फूट पड़ता है और लेखक उसे रेखामात्र या स्थूल चित्र के रूप में प्रस्तुत कर देता है। 'लाघव' से केवल 'लघुकत्व' ही न समझें, 'स्फूर्ति' का भी ग्रहण करें।

इस प्रकार स्पष्ट है कि ऐसे निबंधों में चित्र-तत्त्व की सहायता अधिक मात्रा में ली जाती है, प्रत्युत कहना चाहिए कि इनमें उसके विशेष विधान से ही यह नूतनता संघटित हुई है। बस, इसी से

यह भी सिद्ध है कि ऐसी रचनाओं में कला-पक्ष की फड़फड़ाहट्इी अधिक रहती है। जहाँ कला-पक्ष का फैलाव हुआ वहाँ व्यक्तित्व का पख भी लगा। अतः ये रेखामात्र निबंध अधिकतर व्यक्तित्व-विशिष्ट होते हैं। यह दूसरी बात है कि लेखक ऐसा लोकाबद्ध चित्रण करे कि ग्राहकों का उससे तादात्म्य हो जाय। व्यक्तित्व के प्राधान्य के साथ ऐसी कृति में 'लघुकत्व' की बात भी लगी रहती है, इसी से प्रायः इसमें मनोरंजन का ध्यान विशेष रखना पड़ता है। इसमें हास्य-विनोद, व्यंग्य-वक्रता, चुटकी-चिकोटी आदि का पुट बहुत रहता है। ऐसी रचनाओं को लोग चाव से इसीलिए उठाते हैं कि इनमें हँसने की सामग्री मिल जायगी। इसलिए इनके प्रसंग में हास्य-विनोद और व्यंग्य-वक्रता का भी कुछ विचार कर लेना उचित होगा।

'हास' सुखात्मक भाव है और रति भाव का सहायक माना जाता है। इसमें संदेह नहीं कि 'हास भाव' का विकास रति या राग के विकसित होने के अनंतर की सामाजिक स्थिति का परिणाम है। इसलिए इसका सहायक रूप में ग्रहण होना ठीक ही है। हास्य को शृंगार की अनुकृति कहकर भरत मुनि ने स्पष्ट कर दिया है कि यह शृंगार से कितना और किस प्रकार संबद्ध है—

शृंगारानुकृतिर्या तु स हास्य इति संज्ञितः।

(नाट्यशास्त्र ६।४०)

शृंगार से हास्य उत्पन्न होता है—'शृंगाराद्धि भवेत् हास्यो:'—कहने का विशेष कारण है। यह उससे उत्पन्न हुआ है का तात्पर्य यही है कि 'राग' में ही 'हास्य' के विकास का बीज है। यह भी सुखात्मक भाव है और किसी प्रकार की विकृत वेश-रचना, उक्ति आदि में इसको विषय या आलंबन मिलता है, अर्थात् जिस आलंबन के प्रति 'हास' होता है, उसके प्रति 'राग' भी होता है। यदि 'राग' न होकर कोई दुःखात्मक भाव अथवा विरति हो तो 'हास' अपने प्रकृत रूप की रक्षा न कर सकेगा। उन दोनों का मेल न मिल सकेगा। पर इधर हमारे वर्तमान हिंदी-साहित्य में पश्चिम की देखा-देखी ऐसी रचनाएँ भी की जाने लगी हैं जिनमें एक ही आलंबन के के प्रति हास और करुणा दो बेमेल भाव एक ही समय में दिखाए जाते हैं। यह ठीक नहीं है। 'हास' के साथ उसी आलंबन के प्रति न तो करुणा दिखाई जानी चाहिए, न घृणा। मन की एक ही समय में दो प्रकार की स्थितियाँ एक ही आलंबन के प्रति अशास्त्रीय हैं और मूल भाव की विघातिनी भी। 'हास' के ऐसे प्रदर्शन से हास्य रस का अच्छा और निर्मल अभिव्यंजन तो नहीं हो सकता, विलक्षणता चाहे जितनी दिखाई दे। आजकल के व्यंग्य-विनोद में जो सामाजिक शिष्टाचार का भी कभी कभी विसर्जन दिखाई देता है उसका हेतु यही बेमेल संयोग है—'हास' के साथ 'घृणा', राग के साथ विराग, प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति, नासा-स्पंदन के साथ नासिका-आकुंचन कैसे ठीक बैठ सकता है। रही 'करुणा', सो हँसना और रोना, एक आँख से हर्ष के और दूसरी से

विषाद के अश्रु गिराना, दोनों को साथ साथ एक ही आलंबन के प्रति दिखाना विलक्षणता का प्रदर्शन मात्र करना है। उसकी 'रसवत्ता' को बिगाड़ना है। इसी से यहाँ 'हास' उन शिवजी के प्रति होता था, जिनके प्रति भक्तिभाव भी रहता था। हँसी यहाँ बड़ों बड़ों की उड़ाई जाती थी, पर श्रद्धा-संवलित या भक्ति-भावित वृत्ति से। 'हास' इसी से 'उपहास' नहीं होता था; हलकेपन को, नीची स्थिति को नहीं प्राप्त करता था और न वह 'परिहास' ही बन जाता था, व्यक्तिगत प्रकृति का परिचायक—हँसी में डूबे हुओं के चरित्र मात्र का द्योतक।

जो भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि हास का शृंगार से संबंध है और घनिष्ठ संबंध है। इसी से हास्य-विनोद के साथ शृंगार भी लगा आया है, पहले भी और अब भी; संप्रति 'हास' की रचना लिखनेवाले भी कामवृत्ति या मिथुन-प्रवृत्ति (सेक्स) से अपने को कहाँ बचा पाते हैं। पहले का 'हास' अधिकतर श्लील होता था, पर अब वह अधिकांश अश्लील होने लगा। पहले कुछ भाट आदि ही भड़ौआ लिखा करते थे। भाँड़ों की नकल करते थे। अब शिष्ट लोगों में भी वैसी प्रवृत्ति प्रतिध्वनित होने लगी है, मनोरंजन के बहाने साहित्य में आने लगी है—समाचार-पत्रों के मनोरंजनी स्तंभों से टकराती हुई। अस्तु, चाहे विकृत रूप में हो, चाहे प्रकृत रूप में, साहित्य में शृंगार के साथ हास्य लगा रहता है और हास्य के साथ शृंगार। 'हास' के प्रयोग में इसी से बड़ी सावधानी

अपेक्षित होती है, यदि थोड़ा सा भी कोई चूका कि वह हल्केपन का प्रतिरूप दिखाई पड़ा। रूढ़ियों को तोड़ते-तोड़ते वह सामाजिक मर्यादा को भी तोड़ डालता है।

यही क्यों, हास मनोविज्ञान की दृष्टि से भी वस्तुतः संकल्पहीन और लक्ष्यहीन भाव है, इसलिए उसकी अनुभूति के समय किसी विशेष प्रकार के प्रयत्न-प्रयास की अपेक्षा नहीं रहती। कोई पड़े-पड़े बड़े मजे में हँस सकता है और दूसरों को उसी स्थिति में हँसा भी सकता है। मोटे आदमी जिनके लिए अधिक उठना-बैठना कष्ट-साध्य या श्रम-साध्य होता है, पड़े-पड़े हँसते-हँसाते रहते हैं। इसी से हँसोड़पन की प्रकृति गंभीरता की विरोधिनी होती है। हँसने-हँसाने की अधिक प्रवृत्तिवाले या उसके अभ्यासी को गांभीर्य का विसर्जन कर ही देना पड़ता है। हास्य (मनोरंजन) और अद्भुत (विलक्षणता) के विशेष प्रचलित और मान्य होने से साहित्य की उच्चता का ह्रास होने लगता है। संप्रति हिंदी में 'हास' का अतिव्यवहार भी गंभीरता की ओर से बहुतों को विमुख और विरत किए हुए हैं, इसमें संदेह नहीं।

पर हास का सावधानी से प्रयोग समाज के लिए विशेष गुणद भी होता है। अँगरेजी में हास्य-विनोद और व्यंग्य-वक्रता का जो महत्त्व माना जाता है वह इसी लिए। तीखा और सच्चा व्यंग्य, जिसमें कालुष्य न हो, बड़े काम का होता है। व्यंग्य (सटायर) की हिंदी में धूम है। पर प्रकृत-व्यंग्य लेखक इने-गिने

ही हैं। प्रस्तुत पुस्तक के प्रणेता उन्हीं गिने-चुनों में से हैं। स्मरण रहे कि व्यंग्य (सटायर) और वक्रता (आयरनी) स्वतः हलकी चीजें हैं, उनको गुरुतर उपयोग में ले आने के लिए कठिन कौशल की अपेक्षा होती है। ऐसा कठिन कौशल प्रस्तुत लेखक को प्राप्त है। आधुनिक विचारधाराओं को इन्होंने बड़े करीने से, बहुत व्यंगात्मक ढंग से, अपने इन रेखामात्र निबंधों में प्रवाहित होने दिया है। सामाजिक, राजनीतिक या साहित्यिक प्रचलनों की बड़ी चुटीली चुटकी ली गई है, बड़ी संवेदनात्मक 'चिकोटी' काटी गई है।

'हास्य' स्वस्थ भी होता है और परस्थ भी। कोई स्वतः हँसता भी है और दूसरों को हँसाता भी है। ये आनंदी-जीव लेखक केवल हँसनेवाले नहीं हैं। स्वतः हँसते भी हैं और दूसरों को हँसाते भी। उनको भी हँसा देते हैं जिनपर हँसते रहते हैं। यही इनके हास की सर्वसामान्य विशेषता है, जो दुर्लभ गुण है। कालुष्य की छाया कहीं नहीं, सर्वत्र सात्विक हास ही छाया है। इसका कारण है इनकी विदग्धता (विट); जिसका अच्छा प्रदर्शन शब्दगत चित्रों की अभिव्यक्ति में दिखाई देता है। आरंभिक निबंधों में इनकी यह सहज विशेषता पूर्णतया उद्घाटित है। विदग्धता सहजा होती है; उत्पाद्य नहीं। मैं तो कहूँगा कि लेखक इसी विदग्धता का परिमार्जन और परिष्कार करें। इसके विकास से हमें वैसे निबंधों के दर्शन होने लग सकते हैं जैसे पं० प्रतापनारायण मिश्र के हुआ करते थे। केवल हास्य का गाढ़ा रंग कुछ हलका करना पड़ेगा।

लेखक अच्छे अभिनेता हैं; प्रकृत अनुकर्ता। यही कारण है कि ये कृति-परिवृत्ति (पैरोडी) में भी निपुण हैं। इनके अनुकृति-चित्र बड़े सटीक उतरे हैं, पर वे 'कृत' होकर भी 'अनुकृत' हैं, इसी से उनका मूल रूप कुछ दब गया है। 'अत्यभिनय' (ओवर ऐक्टिंग) से जैसे कृत्रिमता बोल उठती है वैसे ही 'अत्यनुकरण' से भी। इससे लेखक को बचना चाहिए। कला ऊपरी चीज है, उसका घना आवरण, भीतरी तत्त्व के उभड़ने में बाधक हो जाया करता है। अस्तु, रेखामात्र निबंध इतने विविध रूपों में, ऐसी समर्थता से, ऐसी चुलबुली और गठी भाषा द्वारा प्रस्तुत करने वाले ये लेखक महोदय हिंदी में सचमुच एक ही हैं। निबंध के इस विशेष क्षेत्र में पवित्र हास्य-विनोद के साथ नूतन मार्ग को प्रशस्त और विस्तीर्ण करने में लगे हैं, अतः बधाई के पात्र हैं। इस क्षेत्र में मिश्रजी से हिंदी को बहुत आशा है, क्योंकि समाचार-पत्रों के लघुकत्व, रेखामात्र चित्रों के लाघव, हास्य के हलकेपन आदि के कारण आपने न तो साहित्य का गौरव दबने दिया है और न लेखन का गांभीर्य।

२००३, शारदा नवरात्रारंभ
ब्रह्मनाल, काशी।

—विश्वनाथप्रसाद मिश्र

चिकोटी

•

लात, जूता, घूँसा और मुक्का से लेकर अटमबम तक सब बुरी बातें हैं—लेकिन तमाचा और थप्पड़ ताड़ना के लिए रामराज्य की कल्पना में अल्प संख्यकों की भाँति निष्कासित नहीं किए जा सकते। पर 'चिकोटी' तो इन सब से परे अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। इसमें वह बात नहीं है जो औरों में है—यानी कलुष की भावना !

औरों में जहाँ गुस्से की गुर्राहट है चिकोटी में वहाँ प्यार का व्यंग। मनुष्य को हीन समझना अपेक्षित नहीं। किसी को लात मारना अपनी ही हीनता का परिचय देना है। लत्ती चलाना तो घोड़ों और गदहों को ही शोभा देता है मनुष्यों को नहीं। वही बात जूते में भी है। फर्क इतना ही है कि वह एक भोंडा हथियार है। अवसर पड़ने पर वह सुलभ रहता है—अपने पास रहता है। लात में भी चमड़ा है और जूते में भी। पर जूते का चमड़ा बुरे दर्जे का होता है—जानवरों का होता है। इसलिए जानवरी चीज का इस्तमाल आदमी के ऊपर—बेजा है। जो टुच्चे हैं उन्हीं तक इसकी पहुँच रहने दें।

घूँसे और मुक्के की नस्ल लात और जूते से ऊँची जरूर है। लेकिन इस नाते ही इसका प्रयोग क्षम्य नहीं हो जाता। पर बात तो यह है कि अटम बम के आगे आज यह सब हेच है।

लात चला दो, जूता उड़ा दो, घूँसा जड़ दो, मुक्का मार दो तो तुम अशिष्ट ही नहीं कहे जाओगे—बेहूदा, नालायक, जंगली, हैवान तक के विशेषण तुम्हें मिल जायेंगे। लेकिन जो अटम बम का प्रयोग करता है उसे कोई कुछ नहीं कहता—सबसे मजेदार बात तो यह है। यह पश्चिमी सभ्यता है। अटम बम का प्रयोग सभ्य होने की नाप तोल है—कसौटी है। लात, जूते, मुक्के और घूँसे में तो जान का वह खतरा भी नहीं है लेकिन अटम बम तो आदमी ही नहीं उसकी दुनिया को ही स्वाहा कर देता है। अटम बम में पूर्ण विनाश है।

आज हम अटमबम के युग में रहते हैं। इसका लोहा मानते हैं। आजाद हो जाने पर इस निकृष्ट चीज का निर्माण करने में लग भी जायँ तो कोई शुभा नहीं। ऐसी परिस्थित में 'चिकोटी' ही हमारा सहारा है। क्योंकि बिना नुकसान पहुँचाए हुए, हँसी हँसी में प्यार प्यार में हम इसका प्रयोग कर सकते हैं। तिलमिला तो यह भी देती है पर बेजान नहीं करती। गुस्से से चेहरा तमतमा कर लाल भले ही न हो जाए पर आत्मा को एक बार यह करोद जरूर देगी। इस 'कुरेद' की आज हमें जरूरत है। हमारी जागरुकता जो सो गई है, उसे हम चिकोटी काट काट कर जगा दें तो हमारा काम बन जायेगा।

फिर एक बात तो यह है कि हमारे शब्दों की चुटकी में, साहित्य की 'चिकोटी' में वह हिंसा नहीं है जो दूसरों में है। इसकी काट को बरदाश्त करने की क्षमता तो हम में होनी ही चाहिए क्योंकि हमारी चिकोटी तो अहिंसात्मक है। फिर इसका प्रयोग क्यों न हो? खूब हो। जितना होगा उतना जीवन हम में आयेगा और आज हमें जिंदगी की कितनी सख्त जरूरत है। इतना ही मुझे कहना है।

पियरी कलाँ, काशी
दो सितम्बर : १९४६

इ. शं.

तालिका

घूस और घूँसा

• •

पढ़ने का समय
चार मिनट—

प्रकाशित
—संसार-रविवार विशेषांक

वेदों में घूस का उल्लेख तो नहीं मिलता, पर हाँ पुराणों में घूँसे की चर्चा अवश्य आई है। घूँसे की अपेक्षा घूस की उत्पत्ति पुरातन नहीं, नवीन ही है। आधुनिक युग में यदि पश्चिम घूँसे का प्रतीक है तो पूरब घूस का। आज के समाज में घूस और घूँसा दोनों का स्थान महत्त्वपूर्ण है। घूस और घूँसा दोनों एक समान हैं, क्योंकि दोनों के लिए कम से कम दो व्यक्तियों का होना अनिवार्य है। शक्ति दोनों में है, पर अंतर उनमें केवल आकार का है, एक से शारीरिक हिंसा होती है तो दूसरे से नैतिक। इस प्रकार दोनों ही पाशविक प्रवृत्ति के द्योतक हैं।

दोनों की उत्पत्ति के संबंध में गहरा मतभेद है। खालिस साम्यवादी कहते हैं कि घूस और घूँसा दोनों का जन्म अर्थ के कारण होता है और दोनों की बुनियाद आर्थिक है। अर्थ या धन के अभाव से ही लोग घूस लेने पर बाध्य होते हैं। समाज में अर्थ का विभाजन और वितरण सम रूप से नहीं है, इसी लिए घूस का प्रचलन है।

आर्थिक समता होने पर ही घूस की पद्धति अपने आप लुप्त हो जाएगी--ऐसा उनका दृढ़ विश्वास है। अर्थ के न होने पर ही लोग आपस में लड़ने पर विवश होते हैं और बात बढ़ जाने पर घूँसे की नौबत आती है। 'घूँसे' के मूल में आर्थिक विषमता है।

यहीं 'फ्रायडवादी' सिद्धांत यह बोलता है कि घूस और घूँसे की कृति में अर्थ नहीं 'सेक्स' छिपा है। घूस लेकर मनुष्य अमीर बनता है, अमीर बनकर ही वह प्रेयसी को अनेक उपकरणों से अपनी तरफ आकर्षित करने की आशा रखता है। इसीलिए वह घूस लेता है। चूँकि प्रेयसी की मनोकामना घूस द्वारा प्राप्त कागज के टुकड़ों से पूरी हो सकती है, इसलिए घूस लेने की मूल प्रवृत्ति में 'सेक्स' निहित है। इसी प्रकार घूँसा मारकर प्रेमी अपने प्रतिद्वंदी को पराजित करता है और अपनी प्रेयसी को अपनी सबलता का परिचय देता है। प्रेयसी की नजरों में अपना मूल्य बढ़ाने के लिए ही वह घूँसे का सहारा लेता है। घूँसा चलाने में सेक्स की प्रेरणा कार्य करती है।

जो भी हो, यह निश्चित है कि बड़े बड़े विषयों के संबंध में कभी भी महापुरुषों के मत एक नहीं मिलते। पर घूस दी जाती है या ली और घूँसा जड़ा जाता है या मारा, यह तो एक प्रकार से निर्विवाद है। दोनों की पहली सीढ़ी में बौखलाहट होती है। घूस की तह में निम्न स्वार्थ है और घूँसे की जड़ में शारीरिक उद्रेक। घूस और घूँसा दोनों में मुट्ठी का प्रयोग होता है।

घूस की अवस्था गोपनीय रहती है, घूँसे के लिए यह आवश्यक नहीं है। सार्वजनिक समूह में ही घूँसा जड़ने में मजा है और उसी में उसकी महत्ता। घूस लेने-देने का कार्य लुक-छिपकर ही चलता आया है, पर अब उसका स्वरूप क्रमशः बदल रहा है। ज्यों ज्यों प्रगतिशीलता बढ़ती जा रही है, त्यों त्यों घूस की चाल निखरती जा रही है। घूस स्वतंत्रता की ओर उन्मुख हो रही है। अब तो खुलेआम, बैठे बैठे, चलते फिरते, दूकान पर, बाजार में, किसी स्थल पर, किसी समय घूस के लेने-देने में आनाकानी नहीं है। उँगली नहीं उठती, विरोध नहीं होता, मामला तूल नहीं पकड़ता क्योंकि चोर और साव में भेद मिटता जा रहा है।

घूँसे की अपेक्षा घूस में गुण बहुत हैं। यह एक ऐसी बूटी है, जो अक्सीर होती है। घूस देने से ही कार्य सिद्ध होने में कोई कोर कसर नहीं रहती। घूस की मात्रा, कार्य की महत्ता, असामी के मोटे-पतले होने, कर्मचारी के स्वभाव और परिपाटी पर निर्भर रहती है। घूस प्रायः बड़े से लेकर छोटे तक सब लेते हैं और छोटे से लेकर बड़े तक सब देते हैं। अक्षम्य होते हुए भी यह सब क्षम्य करार कर दिया गया है।

'घूँसेबाजी' की शिक्षा पहले जमाने में एक कला समझी जाती थी। पर आज उसका रूप वैज्ञानिक हो गया है। 'घूस' का स्वरूप पहले जो भी रहा हो, आज तो स्पष्टतः, यह एक फैशन है।

घूस और घूँसा के दो बड़े शत्रु माने गए हैं। एक तो मनुष्य की अंतरात्मा, दूसरा समाज का कानून। दोनों के मतानुसार घूस और घूँसा निषिद्ध हैं। पर आज मनुष्य अपने को अंतरात्मा से बड़ा मानता है और कानून को केवल कानून मानता है, इसलिए अपने स्वार्थ के आगे वह अंतरात्मा और कानून को ताक पर रख देता है। कानून की नाक के नीचे कानून टूटता है। कानून अपनी आँखों पर लगे चश्मों से देखकर भी न देखने का सफल अभिनय करता है। मनुष्य ने अपनी अंतरात्मा को दबोच दिया है। उसका स्वार्थ ऊपर उठ गया है, उसकी अंतरात्मा नीचे गिर गई है। मनुष्य बीस हो गया है, उसकी अंतरात्मा उन्नीस पड़ गई है। ऊपर से आदमी घूँसा और घूस लेने-देनेकी बदौलत मोटा होता हुआ भले ही मालूम पड़े, पर उसके अंदर जो घुन लग रहा है, इसका पता कदाचित् उसको नहीं है। घूस एक ऐसी जोंक है, जो मनुष्य की नैतिकता को चूस लेती है। और घूँसा एक ऐसी चोट है, जो मनुष्य के संमान को तिलमिला देती है। ये मनुष्य भले ही घूँसा मारकर या खाकर और घूस लेकर या देकर अपने को मनुष्य कहकर भ्रम में रखें पर असलियत तो यह है कि ऐसे लोग पुरुष हों या न हों पर बेपेंदी के लोटे अवश्य हैं।

बनना और बनाना

पढ़ने का समय
चार मिनट—

प्रकाशित
—संसार—रविवार विशेषांक

बनना और बनाना दो बातें हैं जैसे जिन्ना और वेवल दो पृथक् व्यक्ति हैं। बनने में स्वांग है और मूर्खता। बनाने में कौशल है और पांडित्य। बनना सरल है, बनाना कठिन। जहाँ बनने में प्रदर्शन है, प्रवंचना है, प्रचार है और परछाईं, वहाँ बनाने में मीठी चुटकी है, कड़ुवा छींटा है और तीखा व्यंग। बनना मनुष्य की सबसे शक्तिशाली दुर्बलता है और बनाना उसका सबसे पैना अस्त्र। यदि बनने में स्त्रीत्व है तो बनाने में पुरुषत्व। बनने और बनाने दोनों में रूपक है तो विरोधाभास भी। बननेवाला प्राणी अपने को ठगता है और बनानेवाला दूसरों को। इतना इनमें भेद है। ठगते दोनों हैं। इस नाते दोनों ठगिया हैं। एक के ठगने में स्वार्थ है, दूसरे में स्वार्थ का उद्घाटन।

पर प्रश्न यह उठता है कि आखिर मनुष्य बनना पसंद क्यों करता है? बात यह है कि मनुष्य चमक चाहता है, क्योंकि

चमक में दमक है और बनने से चमक भी आ जाती है और दमक भी जिससे वह गमक उठता है।

चूँकि मनुष्य इतराता है इसलिए वह बनाया जाता है। जो तुम नहीं हो वह तुम दूसरों को जताना चाहो तो यह तुम्हारा बनना हो जाएगा। तिल को ताड़ करने या राई को पर्वत बनाने में बनना-बनाना दोनों है। एक अहम् का विकृत रूप है तो दूसरा व्यंग का साधन। रँगा हुआ सियार, कलई किया हुआ बर्तन और बने हुए आदमी एक ही श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

वैसे बनते सभी हैं पर बनने के लक्षण विशेष कर नेता, नारी और कवि इन तीन प्रकार के जीवों में दृष्टिगोचर होते हैं। इनमें विशेषता यह है कि ये दोधारी तलवार हैं जो बनते हैं और बनाते भी हैं।

नेता की बातचीत, रंग-ढंग, चाल-ढाल सब कुछ असाधारण जो है, यही उसका बनना है, फिर नेता के लिए बनाना तो अनिवार्य है क्योंकि जबतक वह स्वयं नहीं बन लेगा तब तक वह दूसरों को बनाने का बीड़ा कैसे उठा सकता है। इसलिए बनना वह अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझता है। नेता होने के नाते दूसरे नरों के विचारों को नाक-भौं सिकोड़कर निरर्थक सिद्ध करने से ही उसकी नेतागीरी में मौलिकता है। और फिर एक बार नेता बन जाने पर नेतागीरी को स्थिर रखने से बढ़कर और कोई दूसरा आदर्श उसके संमुख नहीं रह जाता।

हिटलर को अपनी पराजय स्वीकार कर लेने में नेतागीरी का दिवालियापन घोषित कर देने की बात आ जाती थी, जो उसके लिए असह्य थी। जो भी हो पर नेतागीरी में बट्टा न लगे। यहीं सत्य के साथ असत्य का समझौता करना पड़ता है और तभी बनने की बात आ जाती है।

बनना नारी की स्वाभाविक प्रकृति है। यही तो उसकी विशेषता है पर साथ ही उसमें मनुष्य को बनाने का गुण भी अपने मूल रूप में उपस्थित है। नारी में जितना आकर्षण है उतने से ही वह संतुष्ट नहीं है। जो वह नहीं है, उससे अधिक बन जाने के प्रयास में ही उसे बनने की आवश्यकता बन जाती है। नारी में सौंदर्य का साधन और उसकी लालसा बड़ी प्रबल है, इसी से तो वह विभिन्न उपकरणों से अपने को सँवारती है, सजाती है, बनती है, ठनती है। वह असल में चुंबक हो जाना चाहती है। यही उसका बनना है।

कवि की कविता का आधार अतिशयोक्ति है। जो है या नहीं है, उसे बढ़ा-चढ़ाकर रंगीन शब्दों में बाँध देना ही कविता है। आजकल के कवियों में कविता कम है, प्रचार और विज्ञापन अधिक—यही उनके बनने की बात है। कविसंमेलनों में जाकर पानी पी-पीकर कविता पढ़ना कवियों के बनने का संकेत है। पर कवि में बनाने की भी क्षमता मौजूद है, इस कारण वह श्रोताओं को अपने काव्य के द्वारा पानी पानी या बेपानी भी कर सकता है।

बनने में सत्य को छिपाने का प्रयास है। बनाने में असत्य की धज्जी उड़ाने का प्रयत्न। बनने की कला इसी में निहित है, कि बनना बनना न दीख पड़े। कृत्रिमता को स्वाभाविकता का बाना पहनाने में ही बनने का कृत है पर जो वस्तुतः कृत्रिम है, वह स्वाभाविक नहीं हो सकता। जो असली कीमत है उससे अधिक मूल्य आँकाने में ही बनने का प्रयोग है। बनावट आज के युग की विशेषता है जो सत्य, शिव और सुंदर नहीं है। मनुष्य के बाहर और भीतर में जितना अंतर है उतनी ही मात्रा में उसके अंदर बनना वर्तमान है। सत्य तो यह है कि बनने से मनुष्य की आत्मतुष्टि भले ही हो जाए पर इससे उसके व्यक्तित्व की पुष्टि नहीं होती।

रूप और रुपया

पढ़ने का समय — चार मिनट—

प्रकाशित — —साप्ताहिक भारत–होली अंक

रूप और रुपया वैसे ही हैं जैसे जादू और टोना। रूप सौंदर्य का चिह्न है, साहित्य की प्रेरणा है, कवि की कल्पना है। रुपया ऐश्वर्य की माप है, पूँजीपतियों का पाप है और जनता का अभिशाप है। रूप में रंग और आकृति की प्रधानता है, तो रुपए में चाँदी या कागज की। एक असली है, दूसरा बनावटी। एक प्राकृतिक है, दूसरा कृत्रिम। एक ग्रेटा गार्बो है तो दूसरा फोर्ड।

रूप पुरातन है, रुपया मध्यकालीन। रूप का दर्शन होता है, रुपए का लेन-देन। एक को जाल कहते हैं, दूसरे को माल। रूप में सोलहो कला है, रुपए में सोलह गंडे। रूप चाँद है और चार दिन की चाँदनी, तो रुपया वस्तु-विनिमय का साधन है—हाथ का मैल। रूप कामधेनु है, रुपया लक्ष्मी। एक रानी है, दूसरा राजा। एक सोना है, दूसरा चाँदी। एक में बाला है, दूसरे में बोल, और दोनों का ही दुनिया में बोलबाला है। रुपए में स्वर

है—टन टन टन...खन खन खन...। रूप मौन है—शाश्वत चुप्पी। एक बोल कर भी बेजान है, दूसरे में बिनबोले ही जान है।

रूप ढलता है, रुपया गलता है। रूप की पूछ होती है, रुपए की लूट होती है। रूप छूट जाता है, रुपया टूट जाता है। रूप निखरता है, रुपया चमकता है। रूप में जीवन है, रुपए में जीवन का साधन। रूप में ईश्वर है, रुपए में दुनिया। एक चेतन है, दूसरा जड़। एक अध्यात्मवाद का प्रतीक है, दूसरा भौतिकवाद का आधार। एक साध्य है, दूसरा साधन। एक फ्रायड है, दूसरा मार्क्स।

रूप और रुपया—इन्हीं की पुकार है। रोजमर्रा रुपए के लिए ही भाई-भाई में, पिता-पुत्र में, पति-पत्नी में, मित्र-मित्र में तकरार छिड़ जाती है, रार मच जाती है। इसी के पीछे राष्ट्रों में रण की भेरी बज जाती है। रक्त की नदियाँ बह जाती है। कागज के नोटों से ही राज्य का सिक्का चलता है, चाँदी के टुकड़ों से ही हुकूमत चलती है। रुपए की रेचकी के लिए ही किच-किच होती है। रुपए से ही रोग लगते हैं। रुपए के लिए ही लोग 'रेस' खेलते हैं—कौड़ी और चौपड़। रुपए के पीछे मजदूर अपनी एड़ी और चोटी का पसीना एक करता है। रोजगारी रुपए के लिए ही अपना रग-रग लगा देता है। इन्हीं चाँदी के टुकड़ों के पीछे लोग अपना ईमान खो देते हैं, सत्य छोड़ देते

हैं, पाप बटोर लेते हैं। रुपए ने युद्ध का भी शत्रु पैदा कर दिया है—कंट्रोल। कंट्रोल रुपए की शक्ति को सीमित करता है, उसकी स्वतंत्रता को बाँध देता है।

रुपए को भुनाने में भी बट्टा लगता है। उसके न होने से इज्जत में बट्टा लगता है। रुपए के लिए ही सट्टा होता है। रुपए से ही जीवन का पट्टा होता है। रुपया दुनिया की तरह गोल है। रुपए में जीवन की पोल है। रुपए के भाव में जीवन का मोल है। रुपए से ही साव में ताव है, और रुपयों के अभाव से ही जनता की नस ढीली है। इसी से आज वह पीली है और जिंदगी उसके लिए शूली है।

और रूप? भारतवर्ष की भाँति अखंड है। रूप में रूपसि सोती है, छवि छिटकती है, माया डोलती है और भावना बोलती है। मनुष्य की अतृप्त प्यास, स्त्रियों की साध, जीवन की माँग, यौवन की आश और निराश—रूप, में मृग भी है और मरीचिका भी। बचपन उससे खेलता है, जवानी उसे रटती है और बुढ़ापा उसे कोसता है।

रूप और रुपया—दोनों युग के सबसे प्रबल प्रलोभन हैं और मनुष्य की सबसे बड़ी शक्ति और दुर्बलता। रूप और रुपया—दोनों अपने में महान् हैं, शक्तिशाली हैं। दोनों की कद्र होती है, पूजा होती है। दोनों पर लोग मरते हैं। दोनों में मोगालते का भय है और विनाश की संभावना। दोनों ही मनुष्य

के सबसे प्रिय मित्र हैं और सबसे पक्के दुश्मन। दोनों आदमी और समाज की दुनिया को बनाते हैं, ढालते हैं और मिटाते हैं। रूप और रुपया दोनों में आकर्षण है, खिंचाव। पर रुपया रुपए को खींचता है और रूप सबको।

दोनों का बाजार गर्म रहता है और दोनों जीवन के लिए अनिवार्य हैं। पर वास्तव में पुरुष और नारी की असली सुंदरता उनके बाहरी रूप की अपेक्षा उनके अंतर के स्वरूप में ही निहित है। मनुष्य रुपए से नहीं दिल से धनी होता है।

माँग और भाँग

पढ़ने का समय
दो मिनट—

प्रकाशित
—आज—साप्ताहिक

माँग और भाँग वैसी ही हैं जैसे साम और दाम।

एक बालकों खाल है, दूसरी देशी नशा।

एक में जीवन की पुकार है, दूसरी में भुलावा।

माँग भरी जाती है, भाँग पीसी जाती है।

एक काढ़ी जाती है, दूसरी घोटी जाती है।

एक में कंघी का प्रयोग होता है, दूसरी में लोढ़े का।

एक में फैलाव की क्रिया आती है, दूसरी में रगड़ की।

माँग सीधी भी हो सकती है—टेढ़ी भी; जैसे स्वराज्य की भाँग सीधी है—पाकिस्तान की टेढ़ी।

भाँग में न तो सीधापन है न टेढ़ापन, वह सरकार और दुनिया की भाँति गोल है।

एक में सफेदी है और दूसरी में हरियाली।

माँग परेशान करती है, भाँग हैरान करती है।

जहाँ माँग की लाज रखी जाती है वहाँ भाँग की बान पड़ जाती है।

एक की पैदाइश खोपड़ी पर होती है, दूसरी की जमीन पर।

एक को तेल से तर करते हैं, दूसरी को पानी से।

दोनों जीवन की संगिन हैं; एक अनिवार्य है, दूसरी वैकल्पिक।

एक पार्वती है, दूसरी विजया।

× × × ×

माँग पूरी जाती है, भाँग छानी जाती है।

एक में सुहाग निवास करता है, दूसरी में मस्ती विराजमान है।

माँग में सिंदूर का स्थान है, तो भाँग में बम का स्वरूप।

भाँग चढ़ जाती है, माँग फिर जाती है।

साहित्य में दोनों का महत्त्व है।

कोई माँग पूरी करने के लिए लिखता है, कोई भाँग छान कर लिखता है।

माँग और भाँग दोनों लेखक के आधार हैं।

दोनों के अभाव में बेचैनी हो सकती है।

दोनों मनुष्य को मारने की शक्ति रखती हैं।

माँग और भाँग दोनों मन को लुभाती हैं।

एक पर कंट्रोल है, दूसरी अभी फरार है।

× × × ×

माँग की अनगिनत किस्में होती हैं।

प्रत्येक पुरुष और नारी की माँग जुदा-जुदा होती है।

युग और समय की माँग बदला करती है।

माँग पूरी न होने से ही युद्ध छिड़ता है। जो हमारा है वह हमें न मिले तो लड़ाई होती है।

जिसने दूसरे की माँग हड़प ली है वह उसे स्थिर रखना चाहता है। जो शक्तिशाली है वह अपनी शक्ति और बढ़ाना चाहता है। विरोधी माँगें आपस में टकराकर संघर्ष का कारण बन जाती हैं।

जिच दूर हो, बंदी मुक्त हों, उत्तरदायी सरकार की स्थापना हो, सत्यार्थ-प्रकाश पर से रोक हटाई जाय, रेडियो-संबंधी हिंदी की नीति स्वीकृत हो—यह सब समय की माँग है।

पर माँग में जब तक भाँग की मिलावट न हो वह बेकार है। माँग तो है पर उसके पीछे नशा जो नहीं है। माँग के पीछे अपने को खो देने, लुटा देने, भूल जाने, मिट जाने की साध नहीं है। माँग में भाँग का अभाव है—नशे की कमी; और इसी से उसकी पराजय।

जोड़ा नहीं तोड़ा

पढ़ने का समय
पाँच मिनट—

प्रकाशित
—ज्योत्स्ना

लोग कहते हैं जोड़ा दो का होता है। मैं कहता हूँ असली जोड़ा तीन का होता है। पुरुष बजात खुद एक फुटकल वस्तु है, स्त्री एक ठोस पदार्थ है। लोग कहेंगे, पुरुष जोड़ स्त्री बराबर एक जोड़ा—नहीं गलत। पुरुष, स्त्री और एक बच्चा तब जाके कहीं तीन का एक सेट पूरा हुआ। पूर्णता तीन में है। दो में नहीं—एक में नहीं।

पैदा हुए, जिंदा रहे, मरे तब जाके कहीं जिंदगी हुई। कहीं ऐसा भी होता है कि बिना पैदा हुए मर जायँ। उदर में। पर नहीं। वहाँ पर भी तो जिंदगी आई, रही—क्षणिक ही सही, फिर गई। तीनों क्रियाएँ एक साथ चिपकी हैं, लिपटी हैं। तीन का जोड़ा है। बेजा नहीं है।

बचपन, जवानी, बुढ़ापा। एक, दो, तीन का जोड़ा।
बिना बचपन के जवानी हो सकती है?
बिना जवानी के बुढ़ापा आ सकता है?

'नहीं।'

जाड़ा है। बरसात थी। इसके पहले गर्मी। बिना बरसात के जाड़ा। बिना जाड़े की गर्मी। बिना गर्मी के बरसात--ऐसा हुआ?

सौ बार नहीं। तीन का तोड़ा है---तोड़ा। दुनिया तीन के तोड़े से बनी है। दो के नहीं। एक के नहीं। आकाश, पृथ्वी, पाताल। तीनों का तोड़ा मिला। बनी, गोल दुनिया।

कवि और उसकी कविता का एक जोड़ा हुआ। ऐसा कहेंगे। पर नहीं। उसके बीच में भी एक चीज है,—प्रेयसी।

कवि+प्रेयसी+कविता=एक सुंदर तोड़ा। एक इकाई जाके पूरा हुआ। प्रेयसी कवि से बोलवाती है तब कविता आती है। जोड़ा बनता है। बिना इस जोड़े के शुद्ध कविता नहीं होगी। लचर होगी—लचर। कवि बनने के लिए प्रेयसी हो। प्रेयसी के लिए प्रेम हो। बिना प्यार और प्रेयसी के जो कविता करते हैं वे कवि नहीं हैं, कवि की पूँछ हैं। आजकल कवि की पूँछ, दुम, लटकन ज्यादा दिखलाई देंगे। कवि कम।

विश्व की जितनी चीजें होती हैं सब तीन में से किसी एक अवस्था में रहती हैं—ठोस, तरल, गैस। तीन का महत्त्व है। दो का नहीं। एक का नहीं। कोई चीज लीजिए। उसमें तीन का तोड़ा मिलेगा—ऊपर का हिस्सा, बीच का हिस्सा और नीचे का पेंदा। बिना पेंदे की स्त्री हो सकती है। देखी है? एड़ी हो, चोटी हो और बीच का हिस्सा नदारद। कल्पना कीजिए। ऐसा कभी हुआ था? है? होगा?

असंभव। गैरमुमकिन। अतीत, वर्तमान और भविष्य के मेल से काल बनता है। समय बनता है। काल का क्या नफ़ीस तोड़ा है जो आता है, रहता है, जाता है और फिर आता है। वही क्रम। फिर, फिर। बार बार। इस तोड़े के चक्कर के बीच में मानव, जीवन और विश्व की तोड़ी चलती है, घिसती है, फिसलती है, पिसती है। आज 'कल' कल हो जायगा। कल आज हो जायगा। क्या अच्छा तोड़ा है, जोड़ा नहीं है।

दो सीधी रेखाएँ किसी स्थान को घेर नहीं सकतीं। उनमें इतना बल नहीं, क्षमता नहीं, सामर्थ्य नहीं, शक्ति नहीं। दो के बजाय तीन रेखाएँ होंगी तब जाके कहीं घेरा पूरा होगा। त्रिकोण बनेगा। तीन रेखाओं का तोड़ा मुकम्मल होगा।

दो के रोमांस में कुछ मजा नहीं। सीधा मामला। तीन हों तब जाके कहीं असली रोमांस आता है। चकाचक। एक स्त्री, दो पुरुष या दो स्त्री, एक पुरुष। यही त्रिकोण शाश्वत है। तीन का तोड़ा।

सत्यम्, शिवम्, सुंदरम्—

जो सत्य है वह सुंदर है, जो सुंदर है वह शिव है। तीनों साथ जाते हैं। तीनों का तोड़ा। राँड़, साँड़, संन्यासी—यह साहित्यिक तोड़ा तुलसीजी ने बाँधा था। आज भी चल रहा है।

जर्मनी, इटली, जापान मिलके बना ऐक्सिस। तीन का तिकड़ बेजोड़ तोड़ा।

नाम, रुपया और शक्ति—यह तीन का तोड़ा आज राष्ट्रों को बाँधे हुए है। इस तिकड़ को पाने के लिए दुनिया में चोथब्बल मची है। इस तोड़े के मोकाबले में आज और सभी जोड़े हेच हैं। जमाना और मनुष्य इस तोड़े के पीछे पागल है। दीवाना है। इसकी कशिश के आगे बेकाम है, बेकाबू है बेगाना है। अपने को खो दिया है। तबाह हो रहा है। लोग मिट रहे हैं, मिटा रहे हैं। मर रहे हैं, मार रहे हैं। पश्चिमी सभ्यता पर नाश नाच रहा है। ताक धिना धिन, ताक धिना धिन, ताक....।

ईश्वर भी तीन हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश। रचना, स्थिर रखना, संहारना। तीन क्रियाएँ। तीन बातें मिलकर—सृष्टि। इन्हीं तीन के तोड़े से ही सब कुछ है। कुछ नहीं। आज दिन महेश की प्रधानता है। तीन का जोड़ा नहीं तोड़ा। 'तोड़ा' की महिमा है। तोड़ा की गरिमा है। तोड़ा की पुकार है। इसी की बलिहारी है। नमूने दें तो जिंदगी बीत जाय। हम यह न कहें कि क्या अच्छा जोड़ा है बल्कि यह कहें कि क्या अच्छा तोड़ा है।

स्वप्न

पढ़ने का समय
एक मिनट—

प्रकाशित
—संसार-रविवार विशेषांक

रात की बेला है और घोर सन्नाटा।
जाड़ा अपनी जवानी उड़ेल रहा है।
मैं सिहर जाता हूँ•••
नींद उचटती है।
मैं अँधेरे में अपनी आँखें खोल देता हूँ।
कुछ दीख नहीं पड़ रहा है••••••
पर हाँ, एक चित्र बरबस आ खड़ा होता है।
मौन मौन, चुप चुप।
वह चलने लगता है और अधिक स्पष्ट हो जाता है।
उसका रूप और निखर उठता है।
उल्लास उससे फूटा पड़ रहा है•••
पर आकुलता कुछ संयत होने लगी।
फिर भी आँखों में निमंत्रण है और अधरों पर हल्की सी मुस्कान•••••••

मेरे जीवन का संगीत बोल उठता है।
हृदय डोल उठता है।
भावना नाचने लगती है।
कल्पना जो सजग हो गई है।
मैं कुछ क्षण, बस कुछ क्षण के लिए बिभोर हो जाता हूँ···
आँखें मूँद लेता हूँ और सोचता हूँ—
यह चित्र।
पर चित्र कहाँ?
रूप की आकृति तो धीरे धीरे निराकार हो रही है···
और मैं?
···जागरूक!

सौंदर्य

•

पढ़ने का समय
एक मिनट—

प्रकाशित
—आज—साप्ताहिक

हे कल्पना के स्वप्न !

तुम्हारी मूर्ति कितनी अमूर्त है !

तुम्हारा रूप कितना बहुरूप है।

तुम्हारा दर्शन, दर्शनीय होते हुए भी अदर्शनीय है····!

× × ×

आदि और अनंत के संरक्षक !

तुम्हारी भित्ति पर प्रेम का सर्जन हुआ था ।

युग-युग से सोई हुई चेतना तुम्हारे प्रकाश से जाग उठी थी····।

दिशाएँ काँप उठी थीं ।

नक्षत्र-मंडल तुम्हारी आभा से दीप्त हो उठा था ।

जलराशि का रौरवनाद तुम्हारा स्वागत करने के लिए शांत होकर धरा पर लोट गया था ।

आनंद से विह्वल होकर रवि ने तुम्हारी निरंतर परिक्रमा करने का अमर अनुष्ठान किया था ।

शशि ने अपनी लज्जा का अंचल मौन होकर भू पर पसार दिया...

तुमने प्रसन्न होकर छवि के अणु से उसकी माँग भरी...।

तुम्हें शांत निद्रा में सुलाने के निमित्त रात्रि ने अपने रूप का चिर परिवर्तन किया...।

उषा की किरणों ने भोर में नूतन रंग में सजकर तुम्हारी आरती उतारी...। और माया?

तुम्हारी स्त्री ने—
पृथ्वी पर आकर्षण का निर्माण किया।
पुरुष-स्त्री के रूप में जीवन आया,
मानव-सृष्टि के क्रम का संचार हुआ;
मानवता को
रूप की कशिश में जलने का वरदान मिला, अभिशाप मिला...

× × ×

मनुष्य की कामना जागरित हो उठी,
सुप्त वासना चेतन हो चली,
लालसा का नर्तन हुआ...।
तृष्णा का विकास,
पुरुष और प्रकृति का घोर उद्वेलन;
यहीं से जीवन का शाश्वत खेल आरंभ हुआ।

नारी

पढ़ने का समय तीन मिनट—

प्रकाशित —अग्रगामी—साप्ताहिक

रूप की चरम सीमा
विश्व की जननी
धरातल का बुनियादी स्तंभ
विधाता की अनोखी देन
प्रकृति का शृंगार
जीवन का संगीत
माया का सुंदर बंधन
नारी
तुम्हारी संस्था शाश्वत है।

× × ×

बालिका के आकार में प्रथम तुम साकार होती हो।
धीरे धीरे तुम में परिवर्तन होता है।
तुम बदलती हो—मादक साँचे में ढलती हो
तुम्हारा अद्भुत विकास होता है
तुम 'बाला' कहलाती हो।

२

लज्जा से विकसित तुम्हारा करुण जीवन
हल्के मुस्कान में छिपा तुम्हारा मूक निमंत्रण
सरल संकोच से भरा तुम्हारा अलसित यौवन
नीली नीली लहरों सी उद्वेलित तुम्हारी उच्छृंखल भावनाएँ
तुम्हारे अल्हड़ विचारों की आँधी
पुष्पों सा सुकोमल तुम्हारा गात—

जग को, जीवन को, पुरुष को एक बार बरबस ही बेसुध कर देता है।

तुम

नारीत्व के माधुर्य को अपने प्रत्येक स्वर में, रोम में, लय में, तान में, ताल में, झुक-झुक में, युग-युग से बिखेरती हो।

दुनिया
विस्मित होकर, मुग्ध होकर—

तुम्हारी रूप-राशि, तुम्हारा कौतुक, तुम्हारा अनोखा खेल, तुम्हारा सजीव अभिनय, बड़े चाव से देखती है।

बार बार देखती है।
फिर फिर देखती है
और
मानव
तो तुम्हें देखकर

तुममें उलझ पड़ता है। और उलझ पड़ता है।
तुम्हें पढ़ने का प्रयास करता है
—पर मनोविज्ञान के विश्वविद्यालय की सारी डिग्रियाँ,
विश्व का समूचा ज्ञान भी
तुम्हें
सही सही पढ़ने में असमर्थ रहा है और रहेगा।
आधुनिक छायावाद की तरह रहस्यपूर्ण नारी
तुम सचमुच में अपठनीय हो।

३

कोमलता की परख
तुम्हारा अस्तित्व
कितना सजल है, सजीव है, स्नेहपूर्ण है,
किंतु
अविचल प्यार से भरा हुआ तुम्हारा गद्‌गद हृदय
राग-द्वेष और स्पर्धा से ओत प्रोत तुम्हारा मस्तिष्क
सुंदरता की मशीन से बनी हुई तुम्हारी काया
जिसके ऊपर तुम्हें अपार गर्व है
—तुम्हारा संपूर्ण व्यक्तित्व—
तुम्हारे विनाश का मूल कारण होता है।

× × ×

मनुष्यों का संबल
जगती की अमूल्य निधि
सेवा, त्याग, साधना की अनुपम अभिव्यक्ति
व्यथाओं का उत्पादक साधन
तुम स्वयं यंत्रणाओं का सर्जन करती हो।
पर
तुम्हीं उन्हें सहने का सामर्थ्य भी रखती हो।
सर्व प्रेरक होते हुए भी
तुम खुद अपने ही वरदानों में जलती रहती हो।

४

वासना का प्रतीक
स्त्री
तुम तुहिन कण से भी अधिक शीतल हो
और ज्वाला से भी अधिक तप्त हो।
तुम्हारी आँच से जलनेवाली तृषा
तुम्हें शाप देती है—अभिशाप देती है
फिर भी—
तुम सदैव निश्चल पहाड़ की नाईं अचल रहती हो।
पुरुषों की कमजोरी
इतनी सबल होते हुए भी

तुम
उनकी गुलामी करना स्वीकार करती हो ।
पत्थर का कलेजा रखनेवाली
स्त्री
तुम विचित्र जीव हो !
—विकारों की शोषक होते हुए भी
तुमने
जीवन को दुलार दिया, स्नेह दिया,
ममता दी, प्यार दिया ।
पर निष्ठुर जीवन ने तुम्हें क्या दिया ?
आज
अपना सब कुछ देकर, खोकर भी
तुम भिखारिन न बनी ।
जग
आज भी तुम्हारी ही भीख पर जी रहा है
अमर स्वप्नों की निर्मात्री
सौंदर्य की प्रतिमा
संसार का महान् आकर्षण
युग का सबल प्रलोभन—
नियति की अमिट रेखा
तुम
कवि को कविता देती हो

कला को प्रेरणा देती हो
पुजारी को प्रणाम देती हो
कल्पना को उड़ान देती हो
भावना को उद्‌गार देती हो
आशा को साँस देती हो
लालसा को विकास देती हो
मनुष्यता को अचल विश्वास देती हो
संसार को
गति देती हो।

× × ×

नारी
तुम्हारा भांडार अक्षय है।

व्यथा

●

पढ़ने का समय
एक मिनट—

प्रकाशित
—क्षत्रियमित्र

हे अंतः की मौन व्यथा !
तुमने आज श्रृंगार किया है ?
शरीर पर यह धधकती ज्वाला का वसन,
माथे पर रोरी,
कानों में उदासी का कुंडल,
गले में चिनगारी की माला पहनकर
पीड़ा और रुदन को
अपने साथ लेकर
कहाँ चली हो ?

× × × ×

व्यथा ने उत्तर दिया—
टूटे हृदयों में वास करने के लिए जा रही हूँ।
वहीं असीम होकर फूट पड़ूँगी;
ससीम होकर रो पड़ूँगी,
अश्रु होकर बह चलूँगी,

उनकी आशाओं का दीप बुझ गया है,
उनके मधुर स्वप्नों की शृंखला टूट गई है,
उनकी कोमल भावनाएँ शुष्क हो गई हैं,
वे जीवन की कटुता से विकल हो उठे हैं,
उनको आज मेरी आवश्यकता है।

× × × ×

व्यथा,
आओ !
मेरे एकाकी जीवन की प्राण !
आओ.......स्वागत।
मेरे अतीत की स्मृतियों को एक बार
फिर से जगा दो
मेरे दबे उद्‌गारों को एक बार फिर से
विकसित कर दो !
मेरे अंतः की ज्वाला को प्रज्वलित,
मेरी वेदनाओं को और सघन !

× × × ×

चिर व्यथा में ही दो मुझे चिर शांति !

जीवन का उपहास

पढ़ने का समय
दो मिनट—

प्रकाशित
—क्षत्रियमित्र-विशेषांक

श्रृंगार का आमंत्रण—बड़ा सा शीशा उसके सामने है।

वह खड़ी है—चित्रा—एक स्त्री।

उसकी माँग भरी है—बायें में कढ़ी।

छोटी सी पतली सिंदूर की रेखा उसमें चुपचाप बैठी है।

चेहरे पर गोरा रंग, बिना ताजगी के अब भी ज्यों का त्यों बना है।

आँखें बड़ी बड़ी हैं—काली काली।

कुछ इतिहास लिए, कुछ राग लिए, पर उनमें अब पहले सा छल, भाव से बराबर चलते रहने की साध नहीं।

लेकिन हाँ, सेक्स की खुमारी जरूर।

चित्रा की इन आँखों ने चित्रा की तरफ देखा।

उज्ज्वल तारों की तरह वे चम-चम चमकीं।

श्वेत अदृश्य में विलीन हो गईं।

चित्रा के अतीत की कल्पना के वे चित्र—

धुँधले धुँधले पर कितने सजीव!

वे घूमते थे, फिरते थे, आते थे, जाते थे,
मौन भाषा में बोलते थे।
स्मृतियाँ उन्हें दुलराती थीं, सहलाती थीं, प्यार करती थीं।
चित्रा का शैशव फिर से जी उठा था।

बचपन की बातें जो जीवन के घोर कोलाहल में समा चुकी थीं, आज फिर धीरे धीरे वापस आ रही थीं।

बचपन का मन बोल रहा था
मैं जल्दी से बड़ी हो जाऊँ·······
लालसा पेंग मार रही थी।
हाँ-हाँ जल्दी से, जल्दी से बड़ी हो जाओ। बड़ी!
पर यह क्या?
सुकुमार शैशव न जाने कब किस राह से खिसक गया···
बाला को भेज दिया···
बाला आई।
लाज लिए सकुच लिए, स्नेह लिए····
और कितनी जल्दी बाला युवती हुई—
यह युवती?
कितनी चीजें और साथ लेकर आई।

मधुर मधुर स्वप्न, नई उमंग, नई टीस, नया जीवन, नया राग, नई रंगीन दुनिया
और सबसे बढ़कर छल-छल-छल छलछलाता हुआ प्यार···

हाँ सब सुंदर सुंदर सुंदरता लिए ! उसने धूम मचा दी····

'मुझे कोई प्यार करे । मैं खेलूँ, गाऊँ, नाचूँ, झूमूँ, जीवन पाऊँ, जीवन का अभिसार करूँ'····

यह सब चित्रा ने जीवन में किया पर आज ?

यह स्वप्न होने लगा ।

तारे टूटने लगे !

दृश्य बदलने लगा !

स्मृति सो गई

अतीत लौट गया

वर्तमान सामने था

सुफेद शीशा—शीशे में चित्रा का चित्र ।

पिचके हुए गाल, धँसी हुई आँखें, खोई हुई सुंदरता, लुटा हुआ यौवन !

चित्रा के अधरों पर स्मित उपहास दौड़ा····

साथ साथ सफेद शीशे की छाया में वही उपहास····

चित्रा चिल्ला उठी

'चित्रा' !

'चित्रा' !

प्रतिध्वनि हुई । उपहास उपहास में मिल गया ।

वह हँसकर रो पड़ी ।

मरीचिका

पढ़ने का समय
दो मिनट—

प्रकाशित
—क्षत्रियमित्र

रूप के अंदर तुम छिपकर बैठे थे।

तभी मैंने तुम्हारी झाँकी ली।

तुम कितने सलोने लग रहे थे—यह मैंने अनुभव किया।

फिर तो मैं तुमसे उलझ पड़ा

—इस उलझन में भी एक मिठास थी। जब मैं तुम्हें पकड़ने के लिए दौड़ा तो तुम भागे।

मैं दौड़ता गया। तुम भागते गए। मैं समझता था कि अब पकड़ा तब पकड़ा—लेकिन इसी अब तब में जीवन बीतता चला।

और तुम सदा की भाँति मुझसे उतनी ही दूर रहे।

मैं हारने लगा। सोचा, थोड़ा सा सुस्ता लूँ।

फिर…

मगर यह संभव कहाँ?

—जीवन में सुस्ताना!

तुमने ललकारा—

'बस···इतने में ही···छक गए···।'

मैं खीझ उठा।

फिर दौड़ाया। इस बार मेरी गति पहले की अपेक्षा दूनी थी। लेकिन इससे क्या?

भागने में तुम बहुत पटु थे।

मैंने जब अपनी चाल बढ़ाई तो तुमने अपनी चाल चौगुनी कर दी—

और मुझसे बहुत दूर निकल गए।

—आँखों से ओझल।

इस धर-पकड़ में मैं कितनी दूर चला आया।

मैंने सोचा—अब बेकार है। मेरी पकड़ के बाहर।

तो हार मान लूँ। वापस चलूँ। मैंने मुड़कर देखा। पीछे कोई मार्ग न था। पथ का कोई चिह्न भी न था। पीछे की जमीन जैसे नदी की बाढ़ से कट-कटकर जलमग्न हो चुकी थी—

जीवन के पथ पर क्या कोई पीछे लौट सका है।

इतनी दूर चलने पर भी मैंने अपने को अकेला तट के करार पर ही पाया।

सामने मैंने नजर फेंकी। देखा—तुम दूर खड़े होकर मुस्करा रहे हो। निमंत्रण दे रहो हो।

'आओ—आओ—छूओ—'

मैं थका था, शिथिल था, मौन था।

× × × ×

तुम मेरे निकट आने लगे। धीरे धीरे बहुत समीप।

तुम्हारी मुस्कुराहट और स्पष्ट होती गई। अब तो तुम सफा हँस रहे थे। विजय का उल्लास फूट पड़ा था।

मुझे क्रोध आ रहा था। अपने ऊपर—तुम्हारे ऊपर। पर इससे क्या?

क्रोध? निर्बलता का सूचक!

मैं सहिष्णु हुआ। समझौता करने में ही भलाई है।

मैंने अपने दोनों हाथ पसार दिए। तुमने भी बाहु फैला दिए। मैं स्वागत करने के लिए उठ खड़ा हुआ और जब आगे को पग बढ़ाया—तुम उसी भाँति मेरी तरफ दृष्टि किए, हाथ फैलाए, मुस्कराते, पीछे हटने लगे।

लोफर

•

पढ़ने का समय
दो मिनट—

प्रकाशित
—क्षत्रियमित्र

काशी की संध्या प्रायः ढल रही थी। लंबी चौड़ी कोलतार से बनी सड़क जेठ की घोर दोपहरी से जल चुकने के बाद एक बार फिर साँस ले रही थी।

सड़क के वक्षस्थल को, किनारों को, पटरियों को रौंदते हुए उसके सुख-दुख से अपरिचित, अनभिज्ञ, अचेतन जन कुछ अपने में भूले हुए, कुछ अपने में सजग, कुछ औरों में सचेत घाट की ओर आ-जा रहे थे।

हवा खाना, समय काटना, लगता था कुछ ऐसा ही उनका उद्देश्य था और कुछ निरुद्देश्य से वे बस यूँ ही चल रहे थे····टहल रहे थे और मैं ?····मैं भी तो इसी तरह इन्हीं में से एक, अकेला, बस चला जा रहा था····पर रुका, पैर ठहर गए, हाथ उठ गए, शिष्टाचार हुआ।

'नमस्ते'—'नमस्ते'—'नमस्ते'।

दो परिचित जो मिल गए—इसी से न!

कोई पास से 'पास' हो रहा था।

चप्पल की पग-ध्वनि कुछ मधुर थी।

साड़ी की भी फरफराहट

तभी तो'''मैंने देखा—

परिचितों के कान खड़े हो गए थे, नजरें चल चुकी थीं।

एकाएक क्षण भर के लिए वे मौन हो गए थे—मैंने पढ़ा।

जरूर कोई बात है।

पर कोई खास बात न थी–महज एक लड़की। कुछ दुबली सी, युवती सी, थोड़ी सुंदर और आधुनिक 'छू' लिए, गंगा में तैर करके लौट रही थी'''

ऐसा मालूम पड़ता था–

–क्योंकि उसके छोटे भाई के खद्दर के झोले में से निचोड़े हुए गीले कपड़े झलक रहे थे।

परिचितों में से एक महाशय ने उससे थोड़ा सटने की, धक्का देने की चेष्टा की, मस्ती से उसकी ओर अपनी आँखों को तरेरा। अपने महीन कुरते की बाँहों को ऊपर चढ़ाते हुए उससे धीमे से कुछ कहने का प्रयास किया, जो मेरे लिए अस्पष्ट था पर जिसमें से अश्लीलता की ध्वनि निकल रही थी।

वह चुपचाप चली गई।

पर महाशय की बेजा हरकत ने उनके 'लोफर' होने का परिचय दिया।

प्रगतिशील

•

पढ़ने का समय
चार मिनट—

प्रकाशित
—संसार—होली-विशेषांक

प्रगतिशील
वह है युवक—नौजवान
सुंदर गोरा—उसका रंग
बाल बड़े हैं पीछे को मुड़े
मूँछें रहित शकल है
—कुछ मर्दानी।
घर-द्वार परिवार छोड़
जीविका कमाने परदेश
वह आया है प्रगतिशील
अकेला—एकाकी।
लोगों से है उसकी
जान नहीं—पहचान नहीं,
पर उसने देखा
घर के सामने उसके

रहता है एक परिवार बड़ा।
हैं उसमें कौन कौन ?
यह उसने जाना
बच्चे हैं—बूढ़े हैं—कई
नौकर—कई स्त्रियाँ
रूपवती-कुरूपवती।
इन सबमें उसने केवल
एक को पहचाना...
आती है वह छज्जे पर
शाम को—सुबह को
रोज—रोज।

× × ×

सुंदर दुबली लड़की
है कुछ कुछ सयानी
वह क्यों आती है ?
युवक ने पूछा अपने से
जरूर मुझे चाहती है,
तभी तो वह नित्य आती है
प्रातः—संध्या।
अपने को है जताना
अपने को है दिखाना

तभी तो वह प्रगतिशील
युवक—नौजवान
कोट में है सजता
पतलून में है लटकता
टाई में है बँधता
पढ़ा लिखा प्रगतिशील
हिंदुस्तानी।
वह है लड़की सादी
सरल—नादान
पढ़ती है स्कूल में
फिर भी तालीम नहीं
हिंदुस्तानी।
ऊँची एड़ी—अंगरेजी कट
के जूते हैं उसको भाते,
आकर्षण लाने को
सौंदर्य बढ़ाने को
पहनती है वह देखा-देखी
रंग बिरंगी जार्जेट की
साड़ी जापानी।

× × ×

युवक ने सोचा
वह लड़की है तो अच्छी
—पर बहुत नहीं,
मेरे सपनों के मानिंद नहीं,
फिर भी कुछ बात नहीं।
उसने अपने को बहलाया....
लड़की ने सोचा
यह युवक प्रगतिशील
है तो अच्छा—पर बहुत नहीं
फिर भी कुछ बात नहीं।
वह कैसा ? वह कैसी ?
दोनों ने सोचा
—सतह सतह पर।
मैं कैसा ? मैं कैसी ?
इसकी है खुदा को माप नहीं।

× × ×

छ महीने बीत चले—
आपस में दोनों की अब तक
हुई है—बात नहीं,
फिर भी आँखें उनकी
नित्य होतीं चार यहीं।
जब वह इनको देखती

टहल-टहलकर यह
दिखलाते अपनी चाल
नवीन।
जब वह टहलती
यह देखते उसका चलता रूप
अनूप।
जब वह गाती
सिनेमा के सस्ते गीत
यह भी हो मस्त
गुनगुनाते 'बसंत' के गीत।

× × ×

यही क्रम चला
यही बात चली
छः महीने बीत चले
गाँधी ने अनशन किया—
पर इसकी इनको परवाह नहीं,
ये हैं दूसरे पथ के राही
प्रगतिशील हिंदुस्तानी।

× × ×

दूसरा कदम लेना होगा
साहस बटोरना होगा

वह युवक है—सोच रहा
बोलूँ बोलूँ कैसे बोलूँ ?
यह प्रश्न विकट····
कल स्कूल को
सुबह जब जाती है
है मौका तभी
भावना को लिखकर
अक्षरों में दूँगा
मैं संदेश अपना
वह खुश होगी
और मैं निहाल।

× × ×

रात से ही है
कार्यक्रम बना
सुबह ही अँगरेजी ब्लेड
से दाढ़ी घुटी।
होकर तैयार—होकर लैस
जीतने बाला को चला है
आज का आधुनिक युवक
प्रगतिशील····
वह उतरे वह उतरी

यौवन में सिमटी सिमटी
उसने झाँका उसने देखा
हो लिया साथ
चल पड़ा साथ।
आज है गाँधी का
अनशन टूटा,
आज है युवक का
मौन टूटा।
हाथ उठा—मुँह बोला
'नमस्ते'
'नमस्ते'
बढ़ाकर हाथ उसने
थमाना चाहा पत्र उसको····
पर हैं ? यह क्या ?
लेना उसने पत्र
अस्वीकार किया !
फिर भी,
पुस्तकों के ऊपर उसके
बरबस उसने पत्र लाद दिया।
फेंकते हुए उसे
वह भारतीय बाला—

बोल उठी
'यह बदतमीजी
मुझको पसंद नहीं।'
वह युवक नौजवान
शर्मा गया हार गया
मामूली लड़की से—
वह प्रगतिशील बदतमीज।

●

मोची

पढ़ने का समय
चार मिनट—

प्रकाशित
—संसार-रविवार विशेषांक

वह पटरी के तरफ साए के नीचे टाट के एक फटे टुकड़े पर बैठा है। उसके सामने लोहे के कुछ छुटपुट औजार, चमड़ा, फटे जूते, डिब्बी में जूतों की विदेशी पालिश, चिपटी कीलें, तागा वगैरह बिखरा पड़ा है। उसके हाथों में लोहे की पतली लंबी सी सूजानुमा कोई चीज है—नीचे की तरफ जरा सा तिरछी मुड़ी हुई, उसी मुड़े हिस्से के बीच में एक छोटा सा छेद। बटे तागे को इसी छेद में फँसाकर इस वक्त वह मेरी बंबइया चट्टी की मरम्मत कर रहा है···उसका सर दोनों पैर के उठे घुटनों तक धँसा हुआ है। बैठकर काम करने का उसका यह ढंग न तो फैशनेबुल है, न वैज्ञानिक—भद्दा है। देखने से ऐसा ही मालूम होता है। उसकी आँखें बहुत देर तक चमड़े पर गड़ी रहती है। पलकें उसकी जल्दी जल्दी उठतीं और गिरतीं नहीं।

उसके सिर के बाल काफी लंबे हैं जो सब आगे माथे की तरफ बेतरतीब झुके हुए हैं। उनमें से कड़ुवे तेल की बू आ रही

है और चिपचिपाहट अधिक है। दाढ़ी को घुटे आज पाँच दिन हुए होंगे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। देशी दारू–ठर्रे की लत ने उसकी आँखों के नीचे एक गहरे, स्थायी, काले गड्ढे की निशानी छोड़ दी है। चेहरा उसका नवजवानी में कुछ गबरू रहा होगा—लेकिन आज उसके गाल पिचके हैं और श्री-हीन शकल में गहरी उदासीनता का भाव स्पष्ट है।

× × × ×

उसकी नाक के नीचे के हिस्से से एक इंच ऊपर से लेकर, मूँछ जहाँ खतम होती है वहाँ से आध इंच बाद के बिंदु तक, दोनों तरफ, एक खिंची रेखा दीख पड़ती है, जो उसके जल्दी ही बुड्ढे हो जाने की सिफारिश कर रही है और उसके मोटे होंठ बचपन में चमुरी बाँधने के इतिहास को बतला रहे हैं···उसके दाहिने कान के ऊपर के पिछले स्थल पर, एक तिहाई पी हुई बीड़ी खिटाई हुई है। बायें कान के बीच के भीतरी खाली हिस्से में एक अधेलचा जमाया हुआ है। इसी से शायद आज उसने बोहनी की थी और उसे इस प्रकार सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है।

देखने से मालूम होता है कि यह व्यक्ति बेहद गरीब है। पैसे के अभाव में उसके जीवन में व्यक्तित्व के विकास का प्रश्न कभी उठा ही नहीं। युद्ध की अवधि ज्यों ज्यों बढ़ती जा रही है और साथ ही साथ महँगी जिस तरह जोर बाँधती जा रही है, वह

सोचता है कि मेरे जीवन के दिन भी ठीक उसी के विपरीत कम हो जाते, पर ऐसा नहीं हो रहा है। वह जानता है कि मैं बहुत गरीब हूँ क्योंकि मैं अपने परिवार को मुश्किल से एक जून भी तो भर पेट नहीं खिला सक रहा हूँ। उसकी कमाई में बरकत तो असंभव है, उसे ऐसा लगता है कि यह गरीबी अब आगे तो नहीं चलना चाहती। एक जमाना था जब इसी चमड़े के काम में उसके बाप दादा अपना नाम छोड़ गए जो केवल इसी की याददाश्त रह गई है। आजकल मशीन के जूतों के आगे मोची के बनाए जूतों का फैशन जो उठ चला है। यांत्रिकता की जड़ता ने उसके जीवन के व्यापार को नष्ट कर डाला है। नए नए काट-छाँट के, किस्म किस्म के जूतों और जोड़ों की नई डिजाइनें उसके दिमाग को उभारने के बजाय सुस्त करती हैं।

× × ×

कभी कभी वह अपने निकम्मेपन पर खिसिया जाता है पर अपने पेशे की शिकायत नहीं करता—सब तरह की तकलीफों की जड़ अपनी किस्मत ही मान लेता है। विद्रोह की भावना से शून्य, अकर्मण्य होकर चुपचाप वह सब मुसीबतें किसी तरह बरदाश्त करके, झेल रहा है। वह तो खानदानी मोची है। उसके बाप मोची थे, उसके दादा मोची थे, सभी मोची थे। इस मोचीगीरी को कभी तो छोड़ नहीं सकता था। अपने लड़के को भी तो वह इसी मोचीगीरी की ही तालीम देगा—वह खानदानी मोची जो है।

अगर उसके बाप ने दो शादियाँ कीं तो उसने तीन कीं। यह दूसरी बात है कि पहली मर गई, दूसरी किसी के साथ निकल गई और तीसरी लड़ाका निकली। अपने बाप के सात बच्चों में वही तो सिर्फ जिंदा रहा और अभी कुल तैंतालीस की उम्र में बावजूद सारी चीजों के वह अपने को 'टचटेक' समझता है! उसके कुल पाँच लड़कों में एक कच्ची उम्र में मर गया, दूसरी लड़की तीन बच्चे-बच्ची पैदा करने के बाद चल बसी, तीसरी विधवा लड़की उसकी गृहस्थी को सम्हालने में मदद करती है या भार है, कौन कह सकता है? और चौथे लड़के को, वह सोचता है अच्छा हुआ कि उसकी माँ उसको अपने साथ ही लेकर चंपत हो गई। पाँचवाँ अभी छोटा सा गोद में है, छठाँ पेट में—और सातवाँ……किस्मत!

× × ×

मेरी बंबइया चप्पल की दुरुस्ती तो हो चुकी थी, पर हिंदुस्तान के इस किस्म की जिंदगी की भी कभी दुरुस्ती होगी या नहीं, मैं सोच रहा था…।

बनारसी अहीर

पढ़ने का समय
छ मिनट—

प्रकाशित
—आज—साप्ताहिक

बनारसी अहीर जाति का हिंदू, मत से सनातनधर्मी और विचारों से रूढ़िवादी है। वह गाय पालता है, भैंस रखता है, दही-दूध की दूकान करता है, पेशराजी कर अपना जीवन निर्वाह करता है। उसके ये पेशे खानदानी हैं। दूध दुहने, दही जमाने और भवन-निर्माण करने की कला में वह प्रवीण है। वह मोटा खाता है, कम पहनता है, अपढ़ रहता है और दूध में पानी मिलाकर बेचने को अनैतिक नहीं समझता। शारीरिक शक्ति का संबल लेकर अपने शारीरिक विकास की ओर वह तत्पर रहता है, तभी वह हट्टा-कट्टा हो पाता है। डंड लगाना, बैठक मारना, बाँह करना, जोड़ी फेरना, गदा घुमाना, नाल उठाना, कुश्ती लड़ना, लाठी चलाना, गँड़ासा मारना, लहासी काटना उसके लिए ऐसी क्रियाएँ हैं जिनमें उसे निश्चित मजा मिलता है। कसरत की शौकीनी से वह अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। उसका शरीर गठा हुआ, बदन दोहरा, दिमाग खोखला, पैर का पंजा चौड़ा, छाती

चौड़ी, मुश्कें भरी हुई रहती हैं। वह लँगोट का खूब इस्तेमाल करता है, घुटने तक धोती पहनता है, कमर में फाँड़ा कसके बाँधता है, अधिकतर नंगे बदन रहता है, कंधे पर छपा दुपट्टा या बनारसी गमछा डालता है, शादी-ब्याह के मौके पर सिरपर मुरेठा बाँधता है और गले में सोने का जंतर पहनता है। वह मूँछ पूरी रखता है, अपने में मगन रहता है और अकड़ कर चलता है। काशी का अहीर गाली-गलौज या गुंडई में किसी से कम नहीं।

बउलिया में नहाना, गइबी पर भाँग छानना, उस पार जाकर निबटना, संकट मोचन का दर्शन करना, मलाई-रबड़ी चाभना, पान जमाना उसके ठोस मनोरंजन में शुमार हैं। बातचीत करने में विनम्र भाव से या तो भइया, बाबू ही कहेगा या टिर्राकर बोलेगा। नमस्ते के बजाय राम-राम करने की ही आदत है। पश्चिमी सभ्यता की छूत उसे तनिक भी नहीं लगी है। वह कोरा भारतीय है। वह सिगरेट नहीं पीता, छुरी-काँटे से नहीं खाता, 'बाल-डांस' नहीं करता, शोषण की 'थियरी' से अनभिज्ञ है। भौतिकवाद का नाम उसने नहीं सुना है। अपने स्वदेशी हुक्के की गड़गड़ाहट में उसे सुख नाम की वस्तु का भान होता है। चिलम, गोरइया, हुक्के के कश से निकले धुएँ में उसके अंतस् की सारी ज्वाला, आशा और निराशा फैलकर अनंत आकाश में विलीन हो जाती है। विज्ञान के प्रभाव से दूर, परिवर्तन से दूर, बौद्धिक चेतना से दूर यह मानव श्रमिक वर्ग का एक नमूना है।

मैडम पेमलोआ का नाम उसने नहीं सुना है, उदयशंकर का नृत्य उसने नहीं देखा है। कथाकाली और भरत नाट्य की पद्धतियों से वह पूर्णतः अपरिचित है। कनकलता या असलानंदी की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति की हवा तक उसे नहीं लगी है। फिर भी अपने ढंग से वह नाच लेता है। उसका नाच बहुत ही अनूठा होता है। नगाड़े और डफले के ताल पर वह चार चार, पाँच पाँच घंटे तक निरंतर धूप-बतास में नाचता रह सकता है। उसके नाच को देखकर इतिहास की भील और संथाल जातियों का स्मरण हो आता है। नाचना ही नहीं वह गाना भी जानता है। गाने की उसकी निजी शैली है। तानपूरा, सितार, तबला या अन्य वाद्यों की सहायता वह नहीं लेता। श्यामकल्याण, भैरवी, खम्माच या भीमपलासी जैसी राग रागिनियों के स्थान पर जिस स्वर में अलापता है वह बिरहा के नाम से प्रसिद्ध है। लोकगीत में इस बिरहा का संग्रह अपेक्षित है। कम्यूनिस्टों को यदि अपने विचारों का प्रचार इन अहीरों के बीच करना है तो उन्हें सबसे पहले बिरहा और चनैनी पर दृष्टि रखनी चाहिए। बिरहा गाते समय जब वह अपने दायें हाथ की गदोरी को दायें कान के ऊपर रखकर आँ-आँ-आँ करता है तब देखते ही बनता है।

यह अहीर जाति-बिरादरी और अपनी परंपरा का कायल है। वह आज भी पंचायत के स्वरूप को अपनी सीमा में स्थिर रखे है। अपनी बिरादरी के नेता को वह 'सरदार' नाम से पुकारता है। कम उम्र में शादी कर देने को वह अच्छा समझता है और विधवा-विवाह

को जायज। बीबी, बच्चे, गृहस्थी तक ही सीमित उसे इसकी चिंता नहीं कि कौन-सी सरकार आती है, कौन-सी जाती है, वह निरक्षर जो है। राजनीति वह नहीं समझता। पर हाँ, जब म्यूनिसिपैलिटी का चुनाव होता है तब उसकी भी पूछ हो जाती है। समाज मनुष्य कि बनाई हुई चीज है, इसे मनुष्य जैसा चाहे वैसा रूप दे सकता है, यह ज्ञान उसकी बुद्धि के परे है। अपने ऊपर पड़ी यातनाओं को वह सहज रूप में सहन करता है, और सहन करने के प्रयास में व्यस्त रहता है। वह पूरा भाग्यवादी है और समझता है कि अपनी किस्मत में जो कुछ लिखा है वही होगा। मुसीबतें आती हैं, कष्ट पड़ते हैं पर यह संतोषी जीव सब प्रकार के अन्याय को सहन करते हुए भी अपने जीवन को स्थिर रखता है। सामाजिक विद्रोह की भावना से शून्य, अपने में पूर्ण वह समाज का एक नागरिक नहीं, सेवक है। अधिकार वह नहीं जानता, वैभव वह नहीं जानता, अहिंसा के दर्शन को वह नहीं जानता, पर गांधीजी के नाम से वह खूब परिचित है। उसे अधिकार, कर्तव्य और नागरिकता की शिक्षा किसी ने नहीं दी है। जो स्वरूप उसके कर्तव्य ने धारण कर लिया है उसको पूरा करने में ही वह संलग्न है। नवशक्ति, नवचेतना, नवजीवन का अधिकारी होते हुए भी आज काशी का अहीर उससे वंचित है।

हिंदू-मुसलमान दंगे के जमाने में ही उसकी असली कीमत की पहचान होती है और उसका बाजार-भाव बहुत ऊँचा हो जाता है; हिंदुत्व की रक्षा का भार उसके ऊपर आ जाता है। हिंदू की

नाक को कायम रखना उसके ही बूते की बात रहती है और उस समय भीरु जनता के लिए वह एक मात्र सहारा बनता है। उसके नेतृत्व, संघटन और शक्ति में विश्वास रखकर लोग उसका मुँह ताकते हैं, उसका वास्तविक भाव तब निखर उठता है।

यह काशी का अहीर पूर्ण रूप से ईश्वरवादी है, आस्तिक है। सत्यनारायण की कथा कहवाता है, देवी-देवताओं को पूजता है, दुःख पड़ने पर मिन्नतें मानता है। गाँजा, चरस या देशी ठर्रे की बुरी लत पड़ जाने पर प्रायः वह कंठी ले लेता है; गुरमुख हो जाता है। दसहरे के त्योहार पर रामलीला का विमान उठाना और रथयात्रा के अवसर पर जगन्नाथजी का रथ खींचना वह अपना सबसे बड़ा सौभाग्य समझता है। उसे इसका पूरा विश्वास रहता है कि इस कृत्य को करने से उसके पाप धुल जायँगे और वह सद्गति को प्राप्त होगा।

कुँवर कृष्ण-कन्हैया ने उसकी जाति में अपना बाल्यकाल बिताया था, यह एक ऐसी घटना है जिसकी स्मृति अब भी काशी के ग्वाले में शेष है। सूरदास ने जिस जाति को अमर कर दिया वह आज भी धेनु चराता है, पर उसे न तो कृष्ण के दर्शन हो पाते हैं और न उनकी बाँसुरी की टेर ही सुनाई देती है, फिर भी कृष्ण और मुरली में विश्वास रखकर वह अपनी जीवन-नैया खेता जा रहा है।

●

आँख

पढ़ने का समय
दो मिनट—

प्रकाशित
—संसार-रविवार विशेषांक

रजनी की औलाद—

तुम काली हो, कलूटी हो, फिर भी लोग तुम्हें प्यार करते हैं। तुम देखती हो। जमाने को देखती हो, जनानों को देखती हो, जनाबों को देखती हो, सबको देखती हो, खूब देखती हो। जी भर के देखो। देखने के लिए ही तो तुम बनाई गई हो। पर तुम स्वयं अपने को नहीं देख सकती। यही तुम्हारा अभिशाप है।

तुम गतिशील हो, प्रगतिशील हो, मैदान में चलती हो, एक्के में चलती हो, टाँगे में चलती हो, बग्घी में चलती हो, मोटर में चलती हो, रिक्शे में चलती हो, परदे में चलती हो, छज्जे पर चलती हो, खुले आम चलती हो। सब तरफ चलती हो। मौके, बेमौके, हर वक्त। पहली ही चाल में शह देती हो, दूसरी चाल में मात। पर तुम्हारी चाल में तनिक भी आवाज नहीं, नूपुर की ध्वनि नहीं, वीणा की झंकार नहीं—बताओ तुम किस दुनिया की बाशिंदा हो ?

जनानों की शर्म—

तुम खूबसूरत हो। इसमें कोई शक नहीं, निहायत, मानता हूँ। खूबसूरती की जान हो। गजब हो। तुम्हारी ही बदौलत दुनिया रौशन है। पर तुम्हारे में सबसे बढ़कर खसूसियत यह है कि तुम्हें नाचना थोड़ा नहीं खूब आता है। नाचती-भी भी हो, पर दूसरों को भी नचा देती हो। यह तुम्हारा कमाल है।

तुम पैतरे भी खूब बदलती हो। कभी टकटकी लगाती हो, कभी डबडबाती हो, कभी छलछलाती हो, कभी भर आती हो, कभी 'आ' जाती हो। कभी खुलती हो, कभी बंद होती हो। कभी हँसती हो। कभी रोती हो। पनिहा जाती हो। आँसू चुआती हो। मोतियाँ टपकाती हो। कभी सावन भादों की नाईं उमड़ पड़ती हो। और कभी बरसने लगती हो।

कमल की माँ—

मैं सच कहता हूँ। तुम जबरदस्त हथियार हो। अहिंसात्मक हथियार हो। गांधीजी की खास रिस्तेदार हो। पर बुरा मत मानो। तुम पल्ले दर्जे की चोट्टिन हो, बेतार की तार से भी बढ़कर डाकिया हो, डाकू हो। लोगों को फँसाने की जाल हो। दिलों का शिकार खेलती हो। बरौनियों की टट्टी से वार करती हो। यह तुम्हारी करतूत है। फिर भी कानून तुम्हारा कुछ नहीं कर सकता। 'रायट' के जमाने में भी तुम १४४ से बरी हो।

लज्जा की पहचान—

बचपन में तू कितनी सीधी थी। मिचौनी खेलती थी।

'अनजाने में आके कोई तुझे मूँद ले।'

मुझे अफसोस होता है कि जवान होकर तूने लड़ना सीखा।

तू सचमुच में बड़ी लड़ाकिन है। आए दिन लड़ा करती है।

नारी का परदा—मनुष्य की ज्योति।

तुम्हारे अंदर चपलता का डेरा है। सागर है। शराब है। खून है। आबेहयात है। सारा इतिहास है। बता दे तू अपने अंदर क्या नहीं छिपाए है?

रूप की चिर प्यासी—

इस जगती में कितने हौसले के साथ तू खुलती है। आशा का दीप जलाए इस तूफानी दुनिया में तेरी जोड़ी फिरती है। पर एक दिन अचानक हमेशा के लिए बंद होकर तू सबको रुला देती है। युग-युग से यही तेरा अनोखा खेल है।

रोना

पढ़ने का समय
पाँच मिनट—

प्रकाशित
—तरंग

पैदा होते देर नहीं बच्चा रोना शुरू कर देता है। रो रो के हँस-हँस के वह एलान करता है कि दुनिया के कमबख्तों मुझे गले-ला देना शुरू कर दो। मैं आ गया।

भला कोई ऐसा भी है जो अपने जीवन में न रोया हो?

सब रोते हैं। कम बेस। कोई दिल के अंदर परदे में रोता है, कोई 'टाई' में रोता है, कोई जंपर में रोता है। रोने में कोई रोक नहीं, कोई टोक नहीं, कोई कानून नहीं, कोई 'ला' नहीं। हम रोते हैं? क्यों? रुलाई आती है। रोते हैं। रुलाई क्यों आती है? जैसे सब चीजें मौसम से आती हैं—गर्मी, बरसात, जाड़ा, जवानी, बुढ़ापा, वैसे रूलाई भी आती है। 'आती' है। स्त्रीलिंग—इसीलिए स्त्रियाँ रोने में मर्दों की अपेक्षा ज्यादा तेज हैं। इनमें खासकर रोने का माद्दा है। पर मनुष्य के संपर्क में आने से कठोर हो जाती हैं—अक्सर!

आदमी रोनेवाला जानवर नहीं था। मुसम्मातों के सोहबत का असर पड़ा—उसे भी रोने का मर्ज लग गया।

अभाव से रुलाई आती है। भाव होने पर भी रुलाई आती है। कोई न कोई अभाव हमेशा पीछे लगा रहता है। भाव चाहे न रहे। एक अभाव पूरा हुआ। दन से दूसरी चाह तैयार! बालिका चाहती है—युवती होना। युवती चाहती है अच्छा सा युवक। फिर वह चाहती है 'माँ' होना। माँ बनने की साध स्त्रियों में कितनी जबरदस्त है! बच्चा हुआ। फिर वह चाहती है—एक और।··· फिर बच्चा बड़ा हो, बच्ची बड़ी हो, बच्ची की शादी हो। बच्चे की शादी हो। बच्ची के बच्चा हो। बच्चे को बच्चा हो। तमाम जिंदगी इसी हेर फेर में खतम। यही जिन्दगी का रोना है।

बहरहाल रोने का भी अपना अपना ढंग होता है। कितने रोते हैं। हजारों-लाखों, बेशुमार। सभी। कौन देखने आता है? कौन सुनने जाता है? किसी का रोना—क्यों सुनें? क्यों रोते हो? किसमें रोते हो? जापानी में या हिंदुस्तानी में? किस 'टोन' में रोते हो? मुँह बा बा कर रोते हो या बंद करके। सिसक-सिसककर रोते हो या दबी जबान से। खिलखिलाकर रोते हो या बीदुर फाड़ कर। किस राग में रोते हो?

बिहागी रोना है, मलारी रोना है या खम्माची? रोने में कौन ठेका है? कितनी देर तक रो सकते हो? औरतों के रोने के रेकार्ड को 'बीट' कर सकते हो या नहीं? रोते हो तो आँसू गोल-गोल टप-टप चूता है या नहीं। फूट-फूटकर रोने में और भी लुत्फ होगा। कितनों को खामखा रोने का चस्का पड़

जाता है। आँख सेंकते सेंकते बड़ी गर्मी चढ़ जाती है इसलिए आँखों को पानी की नन्हीं बूँदों से तरावट पहुँचाना जरूरी हो जाता है।

चाहे दुनिया में और सब कामों के लिए कोई खास वक्त मुकर्रर हो, पर रोने के लिए कोई समय मुकर्रर नहीं। जब 'मूड' आए, रो लो। दन से। कोई रुकावट नहीं। मन हो अकेले रोओ। शादी शुदा हो श्रीमतीजी के साथ ख़ूब मिलाकर रोओ। ज्यादे हिम्मतवर हो चार के सामने रोओ। चौराहे पर खड़े हो के रोओ। ग्रामोफोन में रोओ, रेडियो में रोओ, नेता हो तो प्लेटफार्म पर रोओ, कवि हो तो कविता में रोओ, लेखक हो तो किताबों में रोओ, अखबारों में रोओ। हिंदुस्तानी हो तो पाकिस्तान पर रोओ। हिंदी हो तो हिंदुस्तानी पर रोओ। बहरहाल रोओ जरूर। रोके जरा देखो भी तो कि रोने में क्या मजा आता है। जाड़ा हो तो लिहाफ ओढ़ के रोओ। गर्मी हो तो खस की टट्टी में रोओ। गरीब हो तो गरीबी पर रोओ। अमीर हो तो अमीरी के वजन पर रोओ। रोने में खुशबू चाहते हो तो आँखों में जरा सा जौनपुरी इत्र लगाकर रोओ। दूधमुँहे बच्चों का रोना देखना हो तो शाम को सिनेमा चले जाओ। फिल्म का 'बैक ग्राउंड' म्यूजिक तो डाइरेक्टर पेश करता है, 'फ्रंट ग्राउंड' म्यूजिक इन नन्हें नन्हें इंसान की किस्मों से सुन लो।

बहरहाल यह तो मानना ही पड़ेगा कि लोगों के रोने के भी कई किस्में होती हैं, कई नस्लें होती हैं। और हम लोग दुनिया

में ही रोते हैं। दुनियाँ की बातों पर ही रोते हैं। पर चाहे वह दुनिया हो या चाहे वह 'अनंत' की। कोई भी दुनिया हो।

रोओ।

दुनिया तुम्हारे साथ न रोएगी।

हँसो—दुनिया तुम्हारे साथ हँसेगी।

मनुष्य को रोना चाहिए या हँसना?

बुखार

●

पढ़ने का समय
दो मिनट—

प्रकाशित
—संसार-रविवार विशेषांक

जीवन की एक मात्रा, तुम्हारे आने में मौत की संभावना का एक संकेत छिपा रहता है। तुम भविष्य की तरह अनिश्चित ही नहीं, आकस्मिक भी हो। अनगिनत व्यथाओं में से एक हो। तुम्हारा प्रभाव गुप्त नहीं, प्रकट रहता है। दुख के तुम वह स्वरूप हो जिसका रूप बहुत ही स्पष्ट और प्रत्यक्ष है।

आने पर तुम शरीर को चित कर देते हो, मस्तिष्क को खोखला देते हो, और दिल को दहला देते हो। यह तुम्हारी योग्यता है। तट के पाने के प्रयास में रोगी पट पड़ जाता है। क्षण कटते नहीं कटता। तुम्हारे आगमन से परिस्थिति में अंतर और स्थिति में परिवर्तन हो जाता है। जीवन का क्रम बेक्रम, सुर बेसुर और गति की प्रगति रुक जाती है। नाड़ी की चाल तेज हो जाती है। शरीर का तापक्रम औसत से अधिक गर्म हो उठता है। पारा चढ़ जाता है। मन में अशांति, चित में व्याकुलता आती है और अतीत की बातें आती हैं, मधुर स्मृतियाँ एक बार हृदय-पटल पर नाच जाती हैं••• वर्तमान कठोर दीख पड़ता है। भविष्य खो जाता है।

देहाती तुम्हें जूड़ी पुकारेगा, रोगी कहेगा बुखार और वैद्य महाशय कहेंगे 'ज्वर' का प्रकोप पर शैशव अवस्था में तो तुम्हें 'हरारत' ही नाम दिया जाता है। जो भी हो तुम एक अप्रिय, अवांछनीय सत्ता हो। निर्बलता, अशक्तता, दुर्बलता, तुम्हारी देन है। होते तुम्हारे कई प्रकार हैं और हर एक प्रकार का कारण दूसरे प्रकार के कारण से भिन्न रहता है।

तुम समाजवादी हो। तुम आते सभी को हो। रंक, राजा, मूर्ख, विद्वान्, गधे, ऊँट सभी तुम्हारे दास हैं। जो पूँजीपति है वह भी और जो मजदूर है वह भी तुम्हारा शिकार हो सकता है। कुमारियाँ और श्रीमतियाँ, विधवा और प्रगतिशील तुम्हारे आक्रमण के अपवाद नहीं हो सकते। न तो तुम चर्चिल को छोड़ते हो न रूजवेल्ट को। गाँधीजी पर भी तुम कृपा कर देते हो और जिन्ना जी पर भी तुम अपनी सवारी कस सकते हो। तुम व्यापक हो।

तुम जाति नहीं मानते, पाँत नहीं मानते। रूप और रंग तुम्हारे लिए बराबर है। आस्तिक और नास्तिक, देश और विदेश, काल और गति सबमें तुम वर्तमान हो। तुम कोई भेद नहीं रखते, कोई मान नहीं रखते। तुम उदार हो। इसलिए तुम असली साम्यवादी हो। पर तुम कुरूप अवश्य हो, म्लेच्छ के प्रतीक हो, अस्वस्थ उदर के विकास हो।

तुम मनुष्य के शत्रु हो। तुम उस महान् अज्ञात शक्ति के अस्त्र हो, जिसके निर्माण करने में शक्ति, पूँजी और मस्तिष्क को

आवश्यकता नहीं पड़ती। तुम प्राकृतिक हो। अपने गर्भ में तुम उत्तेजना और शिथिलता दोनों को छिपाए हो। तुम्हारा आक्रमण वैयक्तिक भी हो सकता है, सामूहिक भी। तुम हिटलर के चालक-विहीन वायुयान से कम नहीं हो।

न तो तुम में ममता है, न प्रेम है, न स्नेह। तुम अ-नारी हो। साम्राज्यवादियों की भाँति तुम क्रूर हो—कठोर। न तो तुम में संगीत है न कविता, न रस। तुम में तो बस रुदन है और पीड़ा। तुम कहाँ रहते हो, यह एक रहस्य है। तुम रहस्यवादी हो। तुम बिना बुलाए हुए अतिथि हो, जिसका सत्कार उसे जल्दी से भगा देने के लिए करना पड़ता है।

क्लास गोल था

• •

पढ़ने का समय | प्रकाशित
छ मिनट— | —तरंग

फागुन के महीने में हथिया का बरसना बिलकुल नई बात थी। लोग रव में थे। मौसम काफी अच्छा था। आसमान में बदली थी, बूँदी पड़ रही थी। रात ही से दऊ ने टुपटुपाना शुरू कर दिया था। राय हुई। आज क्लास गोल कर दो।

'रही।'

'हाँ-हाँ।'

'तय।'

'ओ० के०।'

विदेशी सिगरेट का टिन खुल गया।

बस फिर क्या था—क्लास 'गोल' हो गया। तबीयतदारों ने शायरी की शरारती चर्चा छेड़ दी—कोई 'गालिब' की तारीफ करने के लिए हाथ धोके पीछे पड़ा गया तो कोई तकी तखल्लुस 'मीर' के साथ आहें भरने लगा। किसी के 'चकबस्त' 'फेवरिट' निकले—एक साहब ने 'जौक' को उस्ताद माना। दूसरे हज़रत 'बिस्मिल' की

शायरी नहीं बल्कि उनके पढ़ने के तर्ज पर फिदा होने लगे। तीसरे बाबूजी ने जिक्र किया मैं तो 'जिगर' के दीवान का हनुमान-चालीसा की तरह रोज सुबह पाठ करता हूँ। कोई 'सागर' की 'भिखारिन' पर लट्टू था। मौलाना साहब ने 'चिरकीन' का नाम लिया। मैं चौंका। चट से टोंक कर पूछा ये 'चिरकीन' कौन बला हैं? मौलाना ने मेरी बातों को मज़ाक में टाल दिया।

कवियों और शायरों ने अपनी नायिका और माशूकों के पीछे कलम तोड़ दी है। इसी से जनानों को अपने ऊपर जरूरत से ज्यादा मोगालता है। ये लोग अपने को दुनिया में सबसे बड़ा 'इश्कबाज' समझते हैं—इन लोगों की तड़पते तड़पते जिंदगी बीतती है। जितना कसके 'तड़पे' उतने बड़े शायर हुए, कवि हुए।

हाँ, तो लोग अपने खासुलखास को 'कोट' (उद्धृत) करने लगे।

मौलाना ने श्रीगणेश किया।

'मुझको उन्होंने दिल से निकाला तो क्या किया—
अपने तईं को दिल से निकालें तो जानिए।'

तारीफ के ताँते लग गए।

'कोरान मजीद की कसम—वल्लाह···।'

'सोभान अल्ला—माशा अल्ला···।'

'मौलाना तुमने तो 'सीजन' की चीज सुना दी।'

जितनी तारीफ लोगों ने ग़ालिब के इस शेर की न की होगी उससे कहीं ज्यादा तारीफ मौलाना की सूझ की होने लगी, दूसरे साहब ने भी दर्दे दिल के ऊपर 'जौक' का शेर पढ़ा।

'दर्दे दिल से लोटता हूँ मेरा किसको दर्द है।
हूँ मैं हर्फ़ 'दर्द' जिस पहलू से उल्टो दर्द है।'

'क्या कहने हैं!'

'मौलाना को खूब जवाब दिया।'

'अहाहा दर्द की भी हद्द हो गई।'

'जिस पहलू से उल्टो 'दर्द' है।'

'खूब।'

तीसरे साहब से न रहा गया। फनफनाकर उन्होंने भी दिल पर जोर देते हुए 'मीर' की चीज सुनाई।

'हम तौरे इश्क से तो वाक़िफ नहीं हैं।
पर सीने में जैसे कोई दिल को मला करे है।'

सबके सब एक साथ बोल पड़े।

'मोकर्रर इर्शाद''''मोकर्रर इर्शाद।'

'क्या भाव है!'

'बेशक।'

'फिर से कहो—भाई फिर से कहो।'

'बहुत अच्छे!'

महाशय ने—दोहराया।

'हम तौरे इश्क़...

लोग आलोचना करने लगे—

'इश्क से वाकफीयत नहीं है लेकिन फिर भी दिल में जैसे कोई चीज़ मला करे है।'

'क्या 'टीप' के रखा है लब्ज़ मीरसाहब ने 'मला करे है।'

'किसको ? दिल को !'

मौलाना जवान होते हुए भी खुर्राट थे—उनपर 'गालिब' का यह शेर लागू होता था—

'फना तालीम दर से बेखुदी हूँ इस जमाने में—
कि मजनूँ लाम अलिफ लिखता था दीवारे दबिस्तां पर'।

वे भला कब के हार माननेवाले। उन्होंने फिर से गालिब के दर्दे दिल को लपेटा।

'न गमहाए गम को ऐ दिल गनीमत जानिए—
बेसदा हो जायगा यह साज़े हस्ती एक दिन !'

लोगों ने मौलाना को दाद देना शुरू किया।

'खूब 'कोट' करते हो।'

मैं मन ही मन शेर को अँगरेजी में समझने की कोशिश कर रहा था।

मौलाना के जमे हुए रंग को उखाड़ने के लिए दूसरे साहब 'बिस्मिल' की तरफ झुके—

'मुद्दत से सुनते आते हैं वो खानए दिल में रहते हैं,

आ जायँ नज़र तो हम जाने कहने के लिए सब कहते हैं।
आँखों को नज़र आते जो नहीं तो हम दिल से यूँ कहते हैं,
इस परदे में कुछ परदा है वो परदे में क्यों रहते हैं।'

मैं 'कहने के लिए सब कहते हैं' पर गौर कर रहा था—मौलाना ने फौरन जवाब दिया।

'खुदा-न-खास्ता 'जाहिद' साहेब ने भी इसी टक्कर की चीज कही है—मिसरा है मोलाहजा हो—

'आँखों में वह रहें कभी दिल में मकीं रहें,
परदे का उनका शौक है परदानशीं रहें।'

तीसरे हजरत जो अभी तक चुप थे, उनसे न रहा गया वे भी खुल पड़े। दन से 'कोट' किया।

'क्या अनोखी छेड़ है, मैयत से दिल्लगी करना।
कफन उठा के वो कहते हैं—कहो यार कैसे हो?'

शेर के ऊपर फिर वही नुक्ताचीनी शुरू हुई—

'तुमने तो वाकई में सबको मात कर दिया। बाजी मार ले गए लाला।'

'दर्दे दिल से बिचारे आशिक की मौत हो गई। तब जाके कहीं माशूक को छेड़खानी सूझी।'

'कफन उठा के पूछने लगे 'कहो यार कैसे हो?' 'बेहतरीन'····'गजब की बारीकी है।'

मौलाना ने अबकी बार 'जिगर' की शरण ली—

'आँखों में नमी सी है, चुपचुप से वो बैठे हैं,
नाजुक सी निगाहों में नाजुक सा फिसाना है।'

न जाने क्यों मुझे 'चकोरी'जी की वह पंक्तियाँ याद आईं जिसमें वे 'यौवन' से पूछती हैं—

'कुछ कहो कहाँ से आए हो ?
यह मतवाली व्यापकता लेकर—
मरकत के प्याले में किसने
भर दी यह मादकता लेकर।'

मेरी तबीयत हुई कि इसे कोट करके दिखलाऊँ कि हिंदी में भी लोग खूब सोच सकते हैं पर मौलाना साहब का दूसरा उद्धरण था—

'वह बेनियाज़ी उधर इधर ये शौके बयाँ
वो सो गए हैं मगर हम सुनाए जाते हैं।'

'तुमने तो आज दरअसल गजब ढा दिया है मौलाना! लाख रुपए की चीज सुना दी।'

'जनाब प्रोफेसर साहब अगर कहीं सुन पाते तो वे भी फड़क उठते।'

'जरा शेर का 'ख्याल' देखो'—कितना नाजुक है।' सरासर आशिक की बेवकूफी की हद थी, फिर भी लोग खामखा तारीफ़ कर रहे थे।

मुझसे न रहा गया मैंने कहा—'अच्छा, अब जरा एक हिंदी की भी सुनिए। मैंने 'प्रसाद'जी की पंक्तियाँ प्रस्तुत कीं'''।

'कनक किरण के अंतराल में
लुक छिप कर चलते हो क्यों ?
हे लाज भरे सौंदर्य बतादो—
मौन बने रहते हो क्यों ?'

× × ×

इसके सामने सबके सब चित थे।
अब भी झाँसी पड़ रही थी।
कनक की किरण अंतराल में छिपी हुई मौन थी।

शनिवार की शाम

• •

पढ़ने का समय
दस मिनट—

प्रकाशित
—संसार-रविवार विशेषांक

शिमला संमेलन से बात शुरू हुई और सिनेमा पर आकर खतम हो गई। शनिवार की शाम थी। कैसे कटे—यह सवाल था।

'कोई फिल्म देखी जाय।'

'कौन सी ?'

'ज्वार-भाटा' का नाम पहले आया। पर मैं उसे देख चुका था और मित्र भी।

'चिराग' देखो। उन्होंने प्रस्ताव किया।'

'किस कंपनी का है ?'

'मुरली मूवीटोन।'

'मुरली-उरली ऐसे नवसिखिए कंपनी की तसवीर क्या देखोगे। अभिनेता भी अच्छे नहीं हैं।'

'अन्य कार्यक्रम के अभाव में क्या किया जाय। कहीं साहित्यिक गोष्ठी भी तो नहीं है।'

'बहरहाल, कहते हो तो साथ दे दूँगा।'

'मिलो फिर।'

'सात बजे—'संगम'।'

'ठीक।'

मित्र चले गए। दोपहर गरमी, उमस, लेटिस, अखबारों में कट गई। शाम तक आसमान में बदली घिर आई। बाहर निकला तो छाता ले लिया, वैसे साथ में छाता लेकर चलना मुझे कुछ अच्छा नहीं लगता जैसे कितनों को अपने साथ में ताजी पत्नी को लेकर चलने में संकोच होता है। ठीक सात बजे मैं रेस्टराँ में था। मित्र आए थे, चले गए, ऐसा पता चला। मैं उनकी खोज में चौक की तरफ चल पड़ा। कुछ कदम चलने पर ही सामने से आती हुई उनकी शकल दिखलाई पड़ी। उनके हाथ में भी छाता था, मुझे संतोष हुआ। छाते के साथ अकेले मैं ही नहीं था। 'नावेल्टी' तक पहुँचनेमें देर नहीं लगी। बहुत भीड़ नहीं थी। फिर भी नीचे के दरजे के टिकट के लिए लोग एक के पीछे एक कतार से खड़े थे। यह देखकर मुझे खुशी हुई। कम से कम एक सिनेमागृह में तो वास्तविक व्यवस्था करने का प्रयत्न तो किया गया है। किंतु सामने ही लाल पगड़ी वाले संरक्षकों को देखकर खुशी कुछ कम हो गई। बात तो हुई पर यही चीज अपने से होनी चाहिए थी। बाहरी जोर या भय से 'क्यू' बनाया गया तो उसका उतना महत्त्व नहीं। जिस दिन भारत की इस जनता को अपने से स्वयं इसी भाँति आचरण करना तथा सार्वजनिक कार्यों को व्यवस्थित रूप से संपन्न करने का स्वरूप मालूम होगा, उसी दिन वे असली

नागरिक हो सकेंगे। इन्हें नागरिकता की तालीम का अवसर ही कहाँ ? स्कूलों में भी जो नागरिकता की शिक्षा दी जा रही है वह भी अपूर्ण और अपेक्षित रूप में प्रभावकारी जो नहीं हो पाई और जनता तो आज भी जो निरक्षर है। इनके बदन पर पूरी पोशाक नहीं है, पैर में जूते का अभाव है, फटे कपड़े गंदे हैं, शकलें दुबली पतली हैं, दृष्टि में सूनापन है, हृदय में निराशा, और मस्तिष्क में बौद्धिक चेतना लापता है। शक्ति और क्षमता के पुंज को लेकर पैदा हुए पर कभी इनके निखरने का अवसर इन्हें जीवन में न मिला। जीवन के संघर्ष से ऊबकर ये थोड़ा सा मनोरंजन, दिल-बहलाव चाहते हैं। इसीलिए सिनेमा देखने आए हैं। फिल्म कैसी है, कैसी होनी चाहिए, इससे इन्हें मतलब नहीं। सांस्कृतिक मनोरंजन उनका अधिकार है, यह उनको नहीं मालूम। पलायन की ही प्रवृत्ति से वे सिनेमा में आए हैं। पैसे के अभाव में भी किसी प्रकार वे तीन घंटे के मनो-रंजन के लिए काटकपट कर इंतजाम कर ही लेंगे।

मैं यही सब सोच रहा था। मित्र टिकट घर के द्वार पर पहुँच गए थे। टिकट के लिए मैंने नोट निकाला। उन्होंने कहा—'भीड़ तो कम है। दस आनेवाले दरजे में चलें। बेजा तो नहीं है।' पहले कुछ हिचक हुईक्योंकि ऐसी आदत जो नहीं। फिर कहा—अच्छा ले लो। आज हम लोग भी 'सर्वहारा' में शुमार हो जायँ।

हाल में उतनी भीड़ नहीं थी। पंखे के नीचे जगह मिल गई।

'जोकाम से तबियत भारी थी पर नक्स ने असर किया है। काफी हल्का महसूस कर रहा हूँ, मित्र ने कहा, 'आज तो मैंने होमियोपैथी की छोटी पुस्तक भी खरीद ली और देखो, सल्फर नक्स, ब्रायनिया ये सब दवाएँ भी खरीद लीं। मैं कहता हूँ कि तुम भी रात में रोज 'नक्स' और सुबह 'सल्फर' २०० खाया करो, तुम्हारी सब शिकायत दूर हो जायगी।'

मैंने कहा—'ठीक कहते हो। मैं तो बायो-केमिस्ट्री के विज्ञान को ज्यादा अच्छा समझता हूँ। यद्यपि यह भारत में अभी अपनी शैशव अवस्था में ही है। अमेरिका में इसका खूब विकास हुआ है।' 'अच्छा वो, जिसमें कुल १२ दवाइयाँ होती हैं।' मैंने कहा 'हां वही।'

उन्होंने घड़ी देखी। ७-३० बज चुके थे। तसवीर शुरू नहीं हुई थी। खैर निर्धारित समय से दस मिनट बाद रोशनी बंद हुई, तसवीर शुरू। 'मुर्गी पालना', सूचना विभाग द्वारा प्रस्तुत 'साइड रील' थी, फिर प्रचारात्मक खबरें आईं और तब कहीं जाकर 'चिराग' जला।

ऐसा लगा जैसे सामने स्टेज पर किए गए किसी साधारण नाटक की तसवीर ले ली गई हो। कथानक भी कुछ लचर ही मालूम पड़ा।

मित्र ने कहा—कुछ जम नहीं रही है। मैंने कहा 'हाँ, यह हाथीवाला पार्ट कुछ मनोरंजक है, वैसे कुछ दम नहीं है।'

खैर किसी तरह इंटरवल हुआ। बाहर चला जाय—पर सीट? हाँ, भारतीय सिनेमागृहों में सीट की सुरक्षा की भी तो एक समस्या रहती है।

'बैठकें उठा दो, देखा जायगा।'

बाहर बैजू की दूकान पर काफी भीड़ थी। कुछ छोले और नमकीन खाए गए।

पानी पीने की बारी आई। एक लोटे कुएँ के पानी की कीमत एक आना चुकाना पड़ी। अंदर लौटे। गनीमत थी। जगहें साबिक दस्तूर मिलीं। विज्ञापन दिखलाए जाने लगे। 'लाल हवेली'—आ रहा है। मित्रजी का मुँह बिचक गया। मुझे भी फिल्म बनानेवालों की रुचि पर रोना आया। बेचते हुए छोकरे से मैंने पान के लिए कहा—यह तो खाते नहीं, दो बीड़े दो। फिर जेब से निकालकर दो टका मैंने उसे नजर किया।

'नहीं बाबूजी, चार पैसे हुए। दो पैसे और दीजिए।'

बिना आपत्ति के मुझे दो और टिकाने पड़े।···दस साल पहले की बात याद आई जब कि सिनेमा के सबसे निचले दर्जे का रेट दो आने था और जिस श्रेणी में हम लोग बैठे थे उसका चार आना। पर आज काफी अंतर आ गया है क्योंकि दुनिया ने इतने दिनों में तरक्की जो की है।

तमाशा शुरू हुआ। बाद में कथानक सम्हालने का कुछ प्रयास किया गया था। किसी तरह फिल्म खतम हुई तो दस बजे थे। मित्र ने कहा—दस आने खतम हो गए।

फिल्म के बाद जो चीज होती है वह शुरू हुई—आलोचना। हम लोगों की राय एक थी कि फिल्म महा साधारण है। संवाद में एक स्थल पर चाचाजी अपने भतीजे से इस आशय की बात करते हैं''''भाई वाह चीज तो ऐसी है कि मुझे मालूम होता तो तुमसे पहले मैं ही इससे शादी कर लेता। 'चिराग' के चाचाजी इस टाइप के हैं। शब्दों के प्रयोग में यौवन का बाजारू रूप बोला गया है जो सुनने में अश्लील लगता है। अँगरेजी के लब्ज खामख्वा इस्तेमाल किए गए हैं, जो असंगत मालूम पड़ते हैं।

भतीजे साहब की एक अनाथ लड़की से मुठभेड़ हो जाती है। वह अपनी पहली प्रेयसी को छोड़कर उसपर लट्टू हो जाते हैं। कुछ दिनों बाद आपस की गलतफहमी से वह बालिका घर छोड़कर चली जाने पर बाध्य होती है। महाशय उसकी खोज-खबर भी नहीं लेते और जब उनकी प्रेयसी यह बतला देती है कि मेरे ही छल से वह वहाँ से गई तो भी वे कुछ नहीं करते और इसी प्रेयसी से उनका प्रेम पुनः उभर पड़ता है।

एक साल बाद। महाशय अपनी पहली प्रेयसी से शादी करने के मंसूबे बाँध रहे थे उधर उनकी दूसरी प्रेयसी को बच्चा पैदा होता है। बच्चा महाशय का ही है। नौकर के द्वारा रहस्योद्घाटन होता है और इनको अपनी गलती मालूम पड़ती है। पहली प्रेयसी के बजाय दूसरे से शादी कर लेते हैं। फिल्म समाप्त हो जाती है।

चरित्र के निर्माण में न तो कोई विशेषता है न आदर्श ही। कथानक में संदेश का अभाव है। समस्या के निरूपण का ढंग न तो वैज्ञानिक है न स्वाभाविक, हल की तो बात दूर रही। केवल साधारण मनोरंजन के लिए एक बनावटी कहानी प्रस्तुत कर दी गई है।

जहाँ आज सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि जनता की रुचि इस लोकरंजन के माध्यम के द्वारा परिष्कृत की जाय, और वहाँ ऐसी अनावश्यक तसवीरें बनती हैं। तो क्या किया जा सकता है? मैंने अपने मित्र से जिज्ञासा की है!

उन्होंने राय दी—अधिकारी व्यक्तियों की एक समिति होनी चाहिए। प्रत्येक फिल्म निर्माताओं को पहले अपने फिल्मों के कथानकों को उस समिति से स्वीकृत करवाना अनिवार्य हो। यदि कथानक साहित्यिक हो और समाज के लिए हितकर हो तभी उसके फिल्म बनने की स्वीकृति देनी चाहिए अन्यथा नहीं। आजकल तसवीरें बन जाने पर सेंसर होती हैं। सेंसर के द्वारा उसमें कभी काट-छाँट की जाती है और शायद कभी फिल्म-प्रदर्शन के लिए अनुपयुक्त करार कर दी जाती है। रुपए खर्च हो जाने, मेहनत लग जाने और तसवीर बन जाने पर यदि वह गलत मानी जाती है तो इससे प्रेषकों का टाट भी उलट सकता है। इसलिए फिल्म बनने के पहले ही सेंसर होना आवश्यक है। ऐसा होता तो 'तुलसीदास'

और 'शंकर पार्वती' ऐसी फिल्मों की जो दुर्गति हुई है वह न हो पाती।

'सुझाव बुरा नहीं है'—मैंने कहा—समस्या वास्तविक है। कुछ ऐसी ही चीज का होना जरूरी मालूम पड़ता है। पर राष्ट्रीय सरकार के द्वारा ही ऐसे कार्य संपन्न हो सकेंगे।'

ह म लोग फिर शिमला-संमेलन के बारे में बातें करने लग गए।

अकर्मण्यता

पढ़ने का समय
दो मिनट—

प्रकाशित
—अग्रगामी–साप्ताहिक

भारतवर्ष में
परतंत्रता की जड़
अकर्मण्यता आई।
परिस्थितियों ने इसको निमंत्रण दिया।
फिर क्या था!
धीरे धीरे···चुपके चुपके····
बाद में—जोरों से
—मुख्तलिफ तरीकों से
—जुदा जुदा शकलों में
खुलेआम यह आई।
आकर
इसने बसेरा डाला और जम गई।
क्रमशः···
जनसमूह में समा गई—उसकी नस नस में।
और
खूब कसके जकड़ा।

× × ×

शिथिलता इसकी सखी थी।
ह्रास इसका सहोदर।
लोग शिथिल होते गए
—हर पहलू में।
समाज का ह्रास हुआ
—हर ढंग से।
स्वार्थलोलुपों की तीव्र लालसा ने
सारे समूह को इसके हाथों बेच डाला।
और वे देखते देखते बिक गए।
मौन विवशता ने सहयोग दिया।

× × ×

सुंदर देश
अपार धन
ढलता हुआ वैभव
गिरते हुए आदर्श
लुटती हुई संज्ञा
असंतोष की ज्वाला
वैमनस्य का संघर्ष
आपस की फूट
—ने इसे लुभाया
और
यह लुभ गई।

हृदय खोलकर इसने लोगों को प्यार करना शुरू किया।
अपने प्यार को इसने लुटा दिया और लुटा दिया
इस अकर्मण्यता की प्यार की आँधी में—
जन लुटे
तन लुटे
धन लुटे
गौरव लुटा
यश लुटा
मान लुटा
मर्यादा लुटी
स्वतंत्रता लुटी
सब कुछ लुटा……!

× × ×

क्रम
जारी रहा—
मानव का व्यक्तित्व इसकी गिजा थी।
अंधविश्वास इसका साधन।
नियति की दार्शनिकता
इसकी सहचरी थी
गरीबी इसकी देन
दासता इसकी भेंट।

गति
अवरुद्ध हुई—
दुख का सर्जन हुआ।
विपत्ति का आगमन।
चेतनता लुप्त हुई।
देश की पराजय में
अकर्मण्यता ने विजय पाई।

बटगुटरगों

पढ़ने का समय
चार मिनट—

प्रकाशित
—संसार—रविवार विशेषांक

कबूतरों की तीन खास किस्में हैं
गिरहबाज, लक्का और गोलंदर
कबूतरों में—
गिरहबाज अव्वल समझा जाता है
लक्का दोयम और गोलंदर नकंद।

× × ×

हिंदुस्तानी—मानिंद कबूतर हैं।
कबूतरों की तरह भोले
कबूतरों की तरह सीधे
कबूतरों की तरह निश्छल
और कबूतरों की नाईं
बेबस, चिकने और अहिंसक।

× × ×

हिंदुस्तानियों और गिरहबाज कबूतरों में—
फर्क केवल इतना है।

गिरहबाज उड़ंकू होते हैं
आकाश में पिल सकते हैं
और हिंदुस्तानी
परकटे कबूतरों की नाईं
जमीन ही पर उचक-उचककर
फटफटा सकते हैं—बस।

× × ×

लक्का कबूतर—
इनकी संख्या कम है
और ये सिर्फ देखने की चीज !
ऊपर से खूबसूरत-खूबसूरत।
वैसे तो पोले और खोखले
जैसे आजकल के लिबरल
या नानपार्टी लीडर
और उनका ठाठबाट।
लक्के कबूतर
अपने पीछे के पर को ऊपर फैलाकर
सुराहीदार गर्दन जरा टेढ़ी करके,
लचका के
अपनी चोंच हवा में लपका-लपकाकर
खुद ही खुश होते हैं

जैसे आजकल के बाहरी नेता
केवल संमेलन करके निहाल हो जाते हैं ।

× × ×

नंबर तीन—गोलंदर कबूतर—
ये निराले, बेदिमागवाले जंतु हैं।
सब एक साथ भीड़ में रहते हैं
सभों की एक साथ भीड़ उड़ती है
और जहाँ चार कावा आसमान में मारा····
सारी ताकत खतम ।
'आव' 'आव' करके
जरा सा दाना फेंकने पर ही
लद से जमीन पर 'भहरा' पड़ेंगे ।
इनका नमूना मिलेगा
आजकल की सांप्रदायिक संस्थाओं में
जो हूबहू गोलंदर हैं——गोलंदर ।
इन गोलंदरों के शौकीन
खुर्राट हैं—पुराने कबूतरबाज
मँजे हुए, घुटे हुए——खिलाड़ी ।
पहले गिरहबाजी,
फिर लकापन
और तब गोलंदरी
यही इनका सिलसिला है ।

ये खूब पैतरे बदलते हैं।
खूब कबूतरबाजी करते हैं।
लेकिन इनको शायद मालूम नहीं
कोई भी 'बाजी' मामूली चीज नहीं।

× × ×

आज दिन
लोगों को दूसरी फिक्र सवार है—
खाने की और मँहगी की,
नस ढीली है, पस्त हैं, चूर हैं
उन्हें कोई शौक नहीं सूझता—
कोई बाजी नहीं सूझती।

× × ×

असलियत यह है—
आज बाहर सिर्फ़
परकटे कबूतर और कबूतर ही तो
रह गए।
और असल कबूतरबाज?
दरबों के अंदर बंद हो गए।
कबूतरबाजी कौन करे?
कबूतरों की देख-रेख कौन करे?
आज
हिंदुस्तानी कबूतर—

दरबे के बाहर
खुले खुले मैदान में पड़े हैं
बिल्ली आए, बिल्ला आए, नेवला आए,
बाज आए, लग्घड़ आए…
मुसीबत आए…
—कोई चारा नहीं
—कोई बचाव नहीं
कोई घर के गींज दे, हलाल कर दे—
कोई पुरसा हाल नहीं
कबूतर—होते हुए भी
'गुटरगों—बटगुटरगों' की आवाज नहीं।

मानवता का भोर

पढ़ने का समय

छः मिनट—

प्रकाशित

—संचार-रविवार विशेषांक

विश्व में आज
प्रलय की
घटा है छाई हुई···
लेकर टैंक
लेकर मशीनगन
लेकर बम-बारूद
लेकर तोप-बंदूक।
हैं फौज तैयार
हैं पोत तैयार
हैं विमान तैयार
है पूरा लश्कर तैयार।

× × ×

लड़ना है
इनका काम,

भिड़ना है
इनका धर्म।
लड़ने के लिए
हुए हैं ये उतारू—
मानव मानव को
मृत्यु के घाट उतारने
क्या हुए हैं पैदा ?
पश्चिम के सपूत
जापान के कपूत !

× × ×

जंग में ही
है सार।
जंग से
होगा बेड़ापार।
'जंग किए जा'
'जंग किए जा'
है ऐसी इनकी पुकार
है ऐसी इनकी ललकार।
ये पश्चिम के सपूत
जापान के कपूत !

× × ×

नाश—है नाच रहा
स्वार्थ—है इनको खींच रहा
अधिकार—है इनको ढाल रहा
शक्ति—है इनको बाँध रही
मद से हो चूर
शोषण से हो पूर्ण
हिंसा प्रति-हिंसा से ओत प्रोत
हैं ये चल रहे
हैं ये लड़ रहे
हैं ये बढ़ रहे
पश्चिम के सपूत
जापान के कपूत !

× × ×

है यह मानव समाज !
इसकी यह प्रगति !
यह सभ्यता !
यह विकास !
कहते है ऐसा
पश्चिम के सपूत
जापान के कपूत !

× × ×

उधर मानवता
है दुबकी खड़ी
रो रही सिसक सिसक ।
शरीर से उसके बह रही
रक्त की धारा
लाल लाल ।
है वेदना इसे अपार
दुख से है लाचार
देखता है इसको कौन
सुनता है इसकी कौन
पश्चिम के सपूत
जापान के कपूत !

× × ×

हे सत्य के रूप !
सौंदर्य के प्रकाश !
बोलो
हो तुम कहाँ आज ?
वातावरण है प्रशांत
बंदी हैं प्राण
जीवन की यह चीत्कार
आत्मा की पुकार
विश्व का क्रंदन ।

हिंसा का व्यापार
क्रूरता का साम्राज्य
है तुम्हें क्या आज नहीं दीख रहा ?

× × ×

सुनकर
हुई शांति अधीर
आने को है छटपटा रही
सोई चेतना को है पुकार रही
मानव भावना को है जगा रही।
पर हैं ?
यह क्या ?
है कोई पग नहीं
है कोई चिह्न नहीं
है कोई ध्वनि नहीं···
आशा की है बस
एक डोर
मित्र की विजय में
शत्रु की पराजय में——
मुक्त भारत के उदय में
है क्या छिपा
मानवता का भोर।

जानवरवाद

पढ़ने का समय
सात मिनट—

प्रकाशित
—संसार-रविवार विशेषांक

आजकल वादों की बड़ी धूम है। क्या साहित्य, क्या राजनीति, क्या समाज, क्या दर्शन, क्या जीवन, जहाँ देखें वहाँ न जाने कितने वाद बिखरे दीख पड़ते हैं। साहित्य में इस बात की चर्चा छिड़ी रहती है कि रहस्यवाद क्या है? कोई कहता है श्री रामचंद्र शुक्ल ने 'रहस्यवाद' का स्पष्टीकरण किया है। कोई रहस्यवाद के ऊपर शोध करके डाक्टर बन जाता है। किसी को रहस्यवाद की सीमा कबीर में दिखलाई पड़ती है। कोई सूफी कवियों से रहस्यवाद की उत्पत्ति निकालता है। कोई रहस्यवाद को कोरा रहस्यवाद ही निर्धारित करके इस झमेले से अपना पिंड छुड़ाता है। कोई छायावाद को लेकर आता है और इसके सामने 'रहस्यवाद' को नगण्य समझता है। और फिर कहीं से आवाज आती है कि यह सब गलत है 'प्रगतिवाद' ही साहित्य है और सबको प्रगतिवादी होना चाहिए। इस प्रकार 'प्रोपेगैंडा' राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित न रहकर साहित्य में भी आ दाखिल होता

है और प्रगतिवाद के संबंध में गरमागरम बहस होती है और फिर भी यह निश्चित नहीं हो पाता कि यह प्रगतिवाद क्या है ?

राजनीति में भी 'प्रजातंत्रवाद', 'तानाशाह' और 'साम्यवाद' के सिद्धांतों को लेकर राष्ट्र आपस में जूझ पड़ते हैं और एक वाद वाले अपने वाद को दूसरे के ऊपर लादने का बरबस प्रयत्न करते हैं, अपने ही वाद को सर्वश्रेष्ठ घोषित करते हैं और आपस में जूझ जाते हैं—मरने कटने लगते हैं। भारत में स्वराज्य मिलने के पहले ही लोग इसी बात पर विवाद करते करते हाथापाई करने लगते हैं कि स्वतंत्र होने पर भारत में 'गाँधीवाद' की तूती बोलेगी कि 'पूँजीवाद' चलेगा या 'समाजवादी' सरकार रहेगी या 'अराजकता-वाद' के सिद्धांतों का प्रतिपादन होगा।

साहित्य, समाज, राजनीति के अतिरिक्त जीवन में भी 'वाद' की ढूँढ़ होती है और 'फ्रायडवाद' मनुष्य के प्रत्येक कृत्य में 'सेक्स' ढूँढ़ता है और कहता है कि अतृप्त वासनाओं के ही कारण समाज के व्यक्तियों में ये सारे 'कांप्लेक्स' फैले हुए हैं, पर वास्तविकता कहाँ है, इसकी खोज कहाँ हुई! हम जागरूक तो हुए भले ही पर किसी वाद को लेकर। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि आज विश्व में केवल एक ही वाद प्रचलित है और वह है—'जानवरवाद' और इसी 'जानवरवाद' की प्रधानता सर्वोपरि है।

विकासवादी सिद्धांत के अनुसार कोई इसे अस्वीकार नहीं कर सकता कि मनुष्य की उत्पत्ति जानवरों से हुई है।

जब मनुष्य की उत्पत्ति जानवरों से हुई है तब उसके अंदर जानवरी प्रवृत्ति का होना बहुत ही स्वाभाविक है। जानवरों की विशेषता क्या है? उनकी अपनी भाषा अलग अलग होती है और सबके सब बोलते हैं, चिल्लाते हैं। किसी की बोली किसी की समझ में नहीं आती। सब बोलते रहते हैं और कोई किसी की नहीं सुनता। ऐसी ही परिस्थिति आज के मानव समाज में भी दिखलाई पड़ती है। जिन्ना साहब बोलते रहते हैं, एमरी अपनी हाँकते रहते हैं, चर्चिल गुर्राते हैं तो रूजवेल्ट चीखते हैं और स्टैलिन हुंकारते हैं तथा हिटलर गरजते हैं, तोजो देखा-देखी फुफकारते हैं। सब बोलते हैं—सब अलग पोंपों चिल्लाते हैं, और सब अपनी ही कहते हैं, अपनी ही सुनते हैं।

यह सब क्या है? इन लोगों की चिल्ल-पों में जानवरों के लक्षण स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। जानवरवाद के मौलिक सिद्धांत के अनुसार हिटलर की बोली से हम यह सिद्ध कर सकते हैं कि किसी जन्म में आप भेड़िया रहे होंगे और चर्चिल चीता के वंश में से हो सकते हैं। रूजवेल्ट की नस्ल बबर जाति में मिल सकती है। स्टैलिन के पूर्वज के पूर्वज भालू थे—इसमें संदेह नहीं। तोजो में साँड़ की विशेषता पाई जाती है और च्यांगकाई शेक में घोड़े की। मुसोलिनी बिल्कुल भैंसा जैसे लगता है और एमरी की बोली काकातूआ से मिलती-जुलती है। वेवल गिद्ध रहे होंगे, यह निर्विवाद है। जिन्ना साहब के फरिश्ते साँप थे, ऐसा कहेंगे तो

बेजा न होगा। सावरकर की उत्पत्ति नेवले की जाति से हुई होगी। इतिहास इसका प्रमाण दे देगा। हृदयनाथ कुंजरू किसी जन्म में केंचुआ जरूर थे और राजाजी लोमड़ी। मालवीयजी गऊ के रूप में अवश्य अवतरित हुए होंगे और तभी उनमें गऊपन शेष है।

इस प्रकार जितने मनुष्य हैं, उदाहरण बढ़ाकर यह स्पष्ट किया जा सकता है कि उनमें किसी न किसी जानवर की विशेषता पाई जाती है। उनके कृत्यों में जानवरीपन 'ट्रेस' किया जा सकता है और आजकल का युग 'जानवरवाद' का प्रतीक है, ऐसा कह सकते हैं। 'जानवरवाद' ही युग की विशेषता है और 'जानवरवाद' का प्रतिनिधि हर स्थान पर हर समय मिल सकता है।

भारत में स्पष्ट रूप से होली में हमें जानवरवाद का जीता-जागता चलता-फिरता नमूना मिल सकता है। अन्न के बिना मनुष्य का अकाल मृत्यु से मर जाना, बीमार होने पर दवा और चिकित्सा का अभाव होना, जीवन पाकर भी शिक्षा से वंचित रहना, मनुष्य होकर पशु सा जीवन व्यतीत करना, ये सब व्यवस्थाएँ 'जानवरवाद' के सिद्धांत की ही द्योतक हैं।

आज रोटी रोटी के लिए कुत्तों की तरह नोच-खसोट मची हुई है। वाणिज्य में, व्यापार में, नौकरी में, समाज में सब जगह लूट मची हुई है। मनुष्य मनुष्य के साथ अमानुषिक आचरण कर रहा है। आज का मनुष्य अपने मनुष्यत्व से च्युत हो गया

सकी पाशविकता आज घोर उग्र रूप में समस्त संसार में
ई है। उसकी लपटें उसके अंदर के मनुष्य को जलाए
ही हैं। मनुष्य का हृदय आज मानव भावना से रिक्त हो
। उसकी खोपड़ी औंधी हो गई है। हमें स्पष्ट दीख पड़ता
नर राक्षस बना हुआ है, मनुष्य को भक्ष रहा है, पीस रहा है,
रहा है, कुचल रहा है। मनुष्य मनुष्य का हिंसक बना हुआ
नुष्य मनुष्य से लड़ रहा है। मनुष्य मनुष्य से मर कट
।

यह सब क्या है?

युग का सबसे बड़ा वाद 'जानवरवाद' का जीता जागता
है।

कहानी

पढ़ने का समय
तीन मिनट—

प्रकाशित
—नई कहानियाँ

संपादकजी ने कहा—'अगला अंक निकल रहा है, कहानी लिखकर दो।' मुझे जरा संकोच हुआ। कैसे उनसे कहूँ कि मेरे दिमाग में आजकल कहानी लिखने के लिए विचार नहीं आ रहे हैं। लाख कोशिश करता हूँ कि वे आएँ—कहीं से आ जायँ। लेकिन 'न'। वे तो आते ही नहीं। न जाने क्यों उन्होंने मुझसे सत्याग्रह ठान लिया है–मुझे 'बायकाट' कर दिया है। शायद रूठ गए हैं। उन्हें बुलाने के लिए जब कभी रात को नींद खुल जाती है तो बाहर छत पर फौरन जाकर टहलने लगता हूँ। इधर देखता हूँ; उधर देखता हूँ। कहीं मुझे वे दिखाई दे जायँ तो मैं उन्हें अपने पास बुलाऊँ। उन्हें मनाऊँ, उनसे कुछ गुफ्तगू करूँ और फिर कहानी लिखूँ। इसी गरज से मैं सब तरफ देखता हूँ। दुनिया की चीत्कार, मानवता का हाहाकार, जिंदगी की तू-तू, मैं-मैं !! बस, यही सब तो दिखलाई देता है, वे कहीं नजर नहीं आते।

हारकर मैं कुदरत की तरफ सर उठाता।

नीला नीला, लंबा चौड़ा, खूब फैला हुआ दुनिया की करतूतों को अपनी साया से ढँके हुए यह अविचल आसमान! प्रकृति को जगमग जगमग जगमगाते हुए सुफेद सुफेद तारे! कोने में बैठा हुआ चाँद!

देखकर मैं पुकारता, चंदा...चंदा...ओ चंदा...! लेकिन यह क्या? जहाँ का तहाँ! ज्यों का त्यों! चुप्पी साधे हुए मौन! मैं कहानी कैसे लिखूँ? तारों की तरफ बड़ी लालसा से देखता। इतने तारे, बेशुमार। मैं उन्हें भी पुकारता, लेकिन वे सबके सब निर्दयी। उनमें से कोई एक भी मेरे प्रश्न का उत्तर न देता। 'हाँ' या 'ना' भी तो नहीं कहता। अगर इतना ही कह देता—'मत पुकारो, मुझसे तुमको कुछ नहीं मिलेगा', तो भी मुझे कुछ संतोष हो जाता। जी को तसल्ली होती। इनके पास कुछ है ही नहीं और अगर है भी तो ये मुझे देने के लिए राजी नहीं। और तब इनसे कोई ख्वाहिश ही न करता। पर कहानी तो लिखनी ही है।

आखिर मैं आकाश को संबोधित करता; कम से कम तुम ही मेरी पुकार को सुन लो! मुझे विचारों की भीख दो, अपना कुछ संदेश दो। कहानी दो, और मैं उसे आज की पीड़ित मानवता को सुना दूँ। पर नहीं, वह भी कुछ नहीं कहता। मैं लाचार हो जाता–बेबस! मेरी अकेली आवाज सुननेवाला कोई नहीं। मेरा स्वर जीवन के इस सूनेपन में प्रतिध्वनित होकर फिर

मेरे पास वापस लौट आता। प्रकृति भी उसे ठुकरा देती। संसार के लोग भी उसकी अवहेलना करते। उसको कहीं भी बसेरा नहीं मिलता। फिर मैं सोचता, मेरी आवाज में इतनी बुलंदी नहीं कि कुदरत उसको सुन सके। चाँद को, विश्व को मेरा क्षीण स्वर सुनाई ही नहीं पड़ता। वह पुकार उन तक पहुँच ही नहीं पाती। वे बेचारे इसका जवाब कैसे दें ?

कैसे मैं अपनी आवाज उन्हें सुना दूँ ? कैसे मैं अपने ख्यालों को इतना वजनी बना दूँ कि वे उन तक पहुँच जायँ ? कैसे मैं उन्हें इतना जबरदस्त बना दूँ कि वे व्यापक हो जायँ। मैं कैसे उन्हें इतना ताकतवर बना दूँ कि दुनिया की कोई भी हस्ती उसके सामने टिक न सके ? मैं कैसे उन्हें इतना खूबसूरत बना दूँ कि जगत की सारी सुंदरता उनके सामने अपना सर झुका दे ? कैसे मैं अपने विचारों को सचाई की गहराई से भर दूँ कि उन्हें देखकर बेइमानी का जनाजा उठ जाय। उसकी खुशबू से दुनिया के लोग लहालोट हो जायँ। अँधेरे में भटकते हुए आजकल के जमाने को वे अपनी रोशनी से सही रास्ता बता दें, विश्व के संघर्ष को बिदाई दें, शांति का स्वागत करें, टेढ़े जमाने को सीधा करें, प्यार का साम्राज्य रच दें। अहिंसा की बुनियाद डालें न्याय को सार्थक कर दें एकता की लहर चला दें

पाशविक हिंसकों के पैर उखड़ जायँ। मानव प्रेम की अटूट डोर से उनके हृदय के तार को गूँथ दें......।

यह सब कैसे हो?........कैसे?

मेरे सामने आज प्रश्नों का प्रश्न यही सबसे बड़ा प्रश्न है। यही सबसे बड़ी बात है, यही सबसे बड़ी चीज है और यही 'कहानी' है!

सिनेमा-नारी-अधिकार

• • •

पढ़ने का समय
पंद्रह मिनट—

प्रकाशित
—संसार-रविवार विशेषांक

सिनेमा का निर्माण हुआ तो ठीक ही है। प्रश्न यह कि यह किसके लिए बनाया गया? कुत्ते, बिल्ली और जानवरों के लिए तो सिनेमा घर या फिल्में नहीं बनतीं। आदमियों के लिए ही तो बनती हैं। फिर आदमियों की श्रेणी में पुरुष तो हैं ही। स्त्रियाँ क्यों न हों? वे भी आखिर जीव ही हैं। मनोरंजन पुरुष चाहें, स्त्रियाँ भी। पुरुषों की अपेक्षा उनमें मनोरंजन की प्रवृत्ति अधिक। इन्हीं से तो मनोरंजन और इन्हीं को तुम छोड़ दो। यह कैसी बात? जो तुम स्वयं चाहो वह दूसरों को न दो। पराधीन होने के नाते क्या भारत को स्वाधीनता का अधिकार नहीं? ऐसा तो नहीं। नारी होने के नाते क्या नारी को सिनेमा का हक नहीं? ऐसा तो नहीं।

यह तो स्पष्ट है कि नारी को जिस प्रकार मुँह पर घूँघट डालने का, बुर्का ओढ़ने का या ऐसे जंपर पहनने का, जिससे उसकी पूरी बाहें प्रदर्शित हों, हक है उसी प्रकार उसे सिनेमा देखने का भी अधिकार जरूर है।

अधिकार तो उसे है ही, पर प्रश्न यह कि वह संभव कैसे हो सके ? वस्तुतः परिस्थिति ही अधिकार को नियंत्रित करे। समूचे नारीवर्ग को दृष्टिकोण में रखकर इस समस्या की परख करें। उच्च वर्ग की 'ऐरिस्टाक्रेटिक' महिलाओं के लिए तो यह प्रश्न ही न उठे। स्वतंत्रता, अधिकार, रुपया, साधन उन्हें तो सब कुछ प्राप्त। केवल इच्छा-मात्र होने से ही सिनेमा की चाह पूरी हो सके। पर चालीस करोड़ में इनकी संख्या कितनी ? उँगली पर गिन सको। वहीं निम्न वर्ग की अशिक्षित नारी को लो तो उनके लिए प्रश्न दूसरा। उनके संमुख—जीवन का प्रश्न, जीविका का प्रश्न। उन्हें तो जीवित रहने का ही अधिकार हो सके तो बहुत। उनके लिए मनोरंजन कहाँ ? बाइसकोप—सिनेमा—टाकी—यह सब कहाँ ? फिर सिनेमा देखने की सुविधा तो नगर में ही संभव हो सके। देहाती नारियाँ...शहर से दूर, नगर के कोलाहल से दूर, देहात में ही जन्में, बड़ी हों, और समाप्त हो जावें। सिनेमा की छू तो उनतक पहुँच भी न सके। फिर सिनेमा के अधिकार की बात और समस्या उनके जीवन में कहाँ से आए ?

सिनेमा की समस्या तो विशेषकर मध्य वर्ग से संबंध रखे और अधिकांश रूप में मध्यवर्ग शहर में रहे। इस मध्यवर्ग में भी शिक्षित नारी की परिस्थिति अशिक्षित से भिन्न होगी। शिक्षित में अधिकार के बौद्धिक स्वरूप को समझने की क्षमता हो। जो शिक्षा की ओर उन्मुख हैं, उनकी स्थिति दूसरी। उदाहरण के लिए जो

छात्राएँ शिक्षा की ओर उन्मुख हैं यानी एल० टी०, बी० टी० में, विश्वविद्यालयों में, कालेज या स्कूलों में पढ़ती हैं तो इसी कारण ही तो इन्हें सिनेमा देखने का समान अधिकार अनायास न मिल जाए। परिस्थिति के कारण इनके भी सिनेमा देखने के अधिकार में भेद हो। जो स्त्री एल० टी० या बी० टी० में पढ़े, वह सिनेमा देखने के लिए एक प्रकार से स्वच्छंद है। उसके लिए कोई प्रतिबंध तो नहीं। पर यही बात बी० ए० और एम० ए० में पढ़नेवाली छात्राओं के साथ, जो होस्टल में रहें, संभव तो नहीं। वे अकेली जाना चाहें तो न जा सकें। उनके लिए दो की संख्या अनिवार्य है। साथ ही साथ अनुमति भी। फिर इस अधिकार में पुरुष तो साथी न हो सके। यदि वे किसी पुरुष को अपना साझीदार बनावें तो वह भी प्रामाणित पुरुष हो—बंधु हो या गार्जियन। अधिकार के प्रयोग में यह अड़चन जो आए तो बात दूसरी हो जाए। प्रश्न यह कि अधिकार के साथ यह प्रतिबंध क्यों, स्वतंत्रता की सीमा क्यों? इसकी अनिवार्यता तो इसलिए हो कि अधिकार की दुरुपयोगिता न हो, नैतिकता का उल्लंघन न हो, इसलिए ही यह बाँध होवे। नारी की भावना और उसका विवेक संयत रूप में कार्य करे। वह उच्छृंखल न हो उठे, इसी कारण यह रुकाव। अधिकार तो मिले पर नियंत्रण के साथ। कालेज और स्कूल की छात्राओं को भी तो यही अधिकार—सिनेमा देखने का। भेद इतना कि इनके साथ नियंत्रण और प्रतिबंध ऊपर की श्रेणी की अपेक्षा और कड़े। विशेष अनुमति और

साथ में अधिकारी मिस्ट्रेस की सुपुर्दगी में ही सिनेमा के अधिकार का प्रयोग लागू हो सके। अधिकार तो मिले पर संकुचित रूप में, व्यापक रूप में नहीं।

शहर के मध्यवर्ग की अशिक्षित नारी की समस्या तो मुख्तलिफ। सिनेमा का महत्त्व उनके लिए भी होवे तो, पर उतना नहीं जितना शिक्षित के लिए। सिनेमा मनोरंजन का ऐसा साधन जो अशिक्षित को भी शिक्षित करने की पूरी क्षमता रखे। पर व्यवहार में ऐसा कहाँ ? भारतीय सिनेमा व्यवसायी जो है, उन्हें तो धन, लाभ, 'बाक्स आफिस' से ही तात्पर्य, शिक्षा से नहीं, पर आज अशिक्षित नारी की भी रुचि जो सिनेमा में दीखे। वे अगर सिनेमा जाएँ भी तो परदे के साथ, पैरों में बिछिया, छड़ा और चप्पल के साथ। मर्दाने क्लास के बजाय जनाने में ही बैठने की व्यवस्था पसंद करें। अपने अधिकार की ओर आकर्षित तो हैं पर अभी धड़का जो नहीं खुला। उनका मूल अधिकार तो शिक्षित होने का ही है। उसकी प्राप्ति जरूरी है। फिर तो उनके सिनेमा देखने का अधिकार तो स्वतः उनकी शिक्षा के साथ आ जाए। पर शिक्षा का आधुनिक स्वरूप स्त्रियों के लिए उपयुक्त और वांछनीय है, इसमें तो संदेह, क्योंकि उसमें भारतीय आदर्श, परंपरा और राष्ट्रीयता का अभाव जो स्पष्ट है।

समाज में नारी की एक दूसरी स्थिति भी हमारे सामने आए—जहाँ वह पूर्ण स्वतंत्र है। यहाँ स्वतंत्रता से उद्देश्य आर्थिक

स्वतंत्रता से है। जो नारी स्वयं धन अर्जन करती है उसे यह आर्थिक आजादी प्राप्त हो जावे। धन अर्जन करने के लिए कोई पेशा अनिवार्य है। जो वेश्या हैं—उन्हें हम इस श्रेणी में रख सकते हैं क्योंकि वे भी नारी ही हैं। इसके अतिरिक्त नारी के लिए और भी पेशे, किंतु उनकी संख्या इनी गिनी। प्रायः जो नर्स हो जावें या ऐक्ट्रेस या मिस्ट्रेस उन्हें आर्थिक स्वतंत्रता तो मिले ही। आर्थिक स्वतंत्रता सिनेमा देखने की स्वतंत्रता अपने आप ही प्रदान कर दे। स्वतंत्रता से ही अधिकार का भोग मुमकिन हो सके। पर भारतीय नारी के लिए आर्थिक स्वतंत्रता का आदर्श अभीष्ट या नहीं, यह तो दूसरा सवाल ठहरा। लेकिन यह तो निश्चित कि इसकी प्राप्ति से सिनेमा देखने का अधिकार इन्हें निःसंकोच प्राप्त हो जाए।

अधिकार का प्रयोग अवस्था से भी जुटा है। अवस्था के मानी उम्र से है। जो कुमारी, युवती या मिस हैं उन्हें सिनेमा देखने के अधिकार में विशेष बाधा उपस्थित हो। क्योंकि उम्र में जो खतरा है। पर ऐसी ही उम्र में सिनेमा देखने की प्रबल लालसा भी उत्पन्न हो, चाट भी, साध भी। इस वयस में पूर्ण विश्वास नहीं। बहकने की संभावना। यही गुंजाइश एक विशेष उत्तरदायित्व की सृष्टि करे। स्वतः की रक्षा के लिए ही किसी उत्तरदायी व्यक्ति की जरूरत पड़े जो सिनेमा दिखलाने का जिम्मा या भार उठा ले, तभी इनका अधिकार असंभव न हो।

यहीं दुधमुँहे बच्चे का नमूना लें तो स्थिति दूसरी हो जाए। दुधमुँहे बच्चे का अधिकार पूर्णतः माँ के ऊपर आश्रित—माँ सिनेमा

जाए तो वह गोदी के बच्चे को कैसे छोड़े ? यहाँ छोटी बच्ची का अधिकार माँ के अधिकार के प्रयोग के साथ चले। पर मजा तब आए जब ये छोटी बच्चियाँ सिनेमा में जाकर अपने रोने-गाने के अधिकार का भी प्रयोग शुरू कर दें। फिल्म डाइरेक्टर जहाँ परदे-पर 'म्यूजिक' पेश करे वहीं ये छोटी बच्चियों की किस्में रो-गा कर सिनेमा की पृष्ठ-भूमि के संगीत का नमूना दें।

जो गई-गुजरी उम्र का भी उदाहरण लें, तो देखें कि इनकी अवस्था विशेषतः इनके सिनेमा जाने के अधिकार में रोड़ा। फिर भारतीय बुढ़ियों को इस मनोरंजन से क्या तात्पर्य—वे पुरखिन। उनकी आस्था तो गृहस्थी से, बालबच्चों से, नाती-पोतों से, ईश्वर के भजन से होवे—सिनेमा से नहीं। वे, सिनेमा देखने का अधिकार वस्तुतः दूसरों को प्रदान करें। उनकी अनुमति के बिना अधिकार रहते हुए भी नारी अपने सिनेमा देखने के अधिकार को कार्यान्वित न कर सके। यहाँ नारी नारी के अधिकार को नियंत्रित करे।

जो कुमारी से श्रीमती हो जावें उनके सिनेमा देखने के अधिकार में भी तब्दीली हो जाए। श्रीमती के सिनेमा देखने का अधिकार अब 'उनके' ऊपर ही निर्भर रहे। पति पत्नी के सिनेमा देखने के अधिकार को संचालित करे, क्योंकि कुमारी का स्वरूप तो अब बहू में, दुलहिन में, गृहिणी के रूप में परिवर्तित हो जाए। गौने के बाद मिली नई पत्नी को ताजा पति स्वयं सिनेमा दिखलाने के लिए उत्सुक और लालायित रहे। दोनों ही मिश्रित मनोरंजन

चाहें। धन का प्रश्न इस अवस्था में न उठे उसका प्रबंध तो हो ही जाए। पर यह स्थिति ऐसी ही न रहे। पत्नी क्रमशः पुरानी होने लगे और साथ में पति भी···और बच्चे भी हो जायँ। गृहस्थी को चलाने की कभी समस्या सामने आए? रोटी-दाल, बच्चों की पढ़ाई, कपड़ा-लत्ता, त्यौहार, व्यवसाय, नौकरी का बोझ सिर पर पड़े तो मनोरंजन का प्रश्न गौण हो जावे। शुरू में जहाँ अर्थ का प्रश्न नगण्य था वहाँ अब अर्थ की समस्या मूल हो उठे, क्योंकि अब तो कई बच्चेवाली माँ जब सिनेमा जाए तो अपने बच्चों को, लवाजमात को भी साथ ले जाए। फिर सबको साथ में लेकर जाने में सवारी का भी नया खर्च उपस्थित हो। बाबू महाशय सोचें कि इस मनोरंजन में तो चार-पाँच रुपए की चपत तो कम से कम बैठे ही और जब इतना सिनेमा के लिए खर्च हो जाय तो महीने का बजट कहाँ से चले। इसी कारण पति और पत्नी में तकरार छिड़ जाए। पत्नी रोज रोज खाना बनाने और बच्चों की देखरेख करते करते थक जाए। उसे भी मनोरंजन की सख्त जरूरत महसूस हो। जीवन की कटुता से वह कुछ अवकाश चाहे। तबियत के बहलाव का जरिया सिनेमा ही नजर आए। तो यहीं नारी सोचे मनोरंजन भी हमारा अधिकार, सिनेमा देखना हमारा अधिकार। अधिकार भी कोई 'चीज' इसकी सत्ता पहले-पहल उसे मालूम हो। पर अगर वह सिनेमा देखने के अधिकार को लेकर लड़े और और अधिकारों की बात न सोचे तो गलती कर बैठे। यहीं पर यह 'अधिकार' उस नारी से क्यों न सोच-वाए कि व्यक्ति और उनकी आशाओं की स्वतंत्रता अलग वस्तु तो

नहीं···वह तो देश की स्वतंत्रता के साथ अटूट रूप में जुटी है। राष्ट्र, देश, भारत की स्वतंत्रता से ही राजनीतिक अधिकार प्राप्त हो सके। राजनीतिक अधिकार अर्थ के अभाव और विषमता को दूर करने में नारी को साक्षर और स्वतंत्र करने में सहायक हो सके, फिर तो सिनेमा देखने का अधिकार स्वतः संभव हो सके। और नारी अपने सिनेमा देखने के अधिकार की पूर्ति करने में समर्थ हो सके।

महाशय पति उसके इस अधिकार की प्राप्ति में विशेष मदद तो न करें। वे तो स्वयं विवश, किंकर्तव्यविमूढ़। मूल अधिकार के प्रश्न समझने की चेष्टा पुरुष और नारी करें। उसकी प्राप्ति के लिए सचेष्ट, प्रयत्नशील हों तो ही समस्या के हल की गुंजाइश निकले। स्वतंत्रता का मूल अधिकार ही सब अधिकारों को प्राप्त कराने की जड़—बुनियाद। इसी की खोज हो, पकड़ हो, चाह हो, उद्योग हो, तो हमें, पुरुष को, नारी को, सबको, अपने अधिकार मिल जायँ। पर बात तो यह कि अधिकार की उत्पत्ति और उस पर जोर देना यह विदेशी चीज है—पश्चिमी वस्तु। भारत के लिए अधिकार का उतना महत्त्व नहीं जितना उस मूल चीज का जिसे करने से ही अधिकार स्वयं उपस्थित हो जाए। उस चीज को कर्तव्य कहें। हम अपने कर्तव्य को चीन्हें, पहिचाने, और अपने प्रति, देश के प्रति जो हमारा कर्तव्य है उसे करें तो हमें हमारी प्रिय, वांछनीय वस्तु अधिकार बेलाग मिल जाए। हम पुरुष हों, चाहे नारी।

हिंदी

पढ़ने का समय
दो मिनट—

प्रकाशित
—संसार-रविवार विशेषांक

जो हिंदू है उसे हम हिंदी की विशेष उपाधि दे दें तो कुछ बुरा नहीं। पर वह अकेला हिंदू ही तो नहीं। वह भारत में जन्म से हिंदुस्तानी भी तो है। हिंदू होते हुए हम हिंदुस्तानी हो जाते हैं। हिंदुस्तानी होते हुए भी हम हिंदू नहीं हो सकते। पर हिंदू होते हुए हम हिंदी के हैं और हिंदू न होते हुए भी हिंदुस्तानी होने के नाते हम हिंदी के हैं क्यों कि यह हिंदी जन की भाषा। मैं यह मानने को तैयार नहीं कि हिंदू होते हुए भी हम हिंदी के न हों। हिंदू होते हुए भी हम हिंदू के साथ राष्ट्रीय हो सकें। हिंदी और हिंदुत्व हमें राष्ट्रीयता की ओर न ले जाय, यह तो सही न होगा। पर यह भी गलत होगा अगर राष्ट्रीयता हम से अपने हिंदुत्व या हिंदी को खो देने के लिए कहे। न तो ऐसा हिंदुत्व अच्छा जो हमें राष्ट्रीयता से वंचित रखे और न ऐसी राष्ट्रीयता अच्छी जो हिंदुत्व के विकास में बाधक हो।

हिंदू महासभा हिंदुत्व पर जोर दे तो कांग्रेस राष्ट्रीयता पर। पर ऐसी कौन सी चीज जो दोनों दृष्टिकोण में समन्वय स्थापित करे। हिंदी ही वह चीज है जो राष्ट्रीय है। यह हिंदी

हिंदू और हिंदुस्तानी की लड़ी को जोड़े, हिंदी की इस योग्यता को तभी मैं मानूँ। इसी से हम हिंदी के साहित्य संमेलन के महत्व को और भी स्वीकार करें।

हम स्वयं को चाहें और स्वयं का मोह भी रहे। अपनी और अपनी चीजों की चाह तो होवे ही वैसे ही हिंदी भी तो हमारी अपनी खास चीज। उठते-बैठते, चलते-फिरते हम सबमें विचार तो उठे, भावना तो आए। उस विचार को जन्म कौन दे? उस भावना को जीवन कौन दें? भाषा ही तो दे। हिंदी ही तो दे। क्योंकि भाषा में ही तो विचार आए और भावना उठे। हर समय, हर क्षण भाषा हमारे साथ। बिना बोले, बिना लिखे, बिना सोचे, बिना प्रभावित हुए, बिना अपने को व्यक्त किए तो हमारा जीवन न चले। हम बोलें—भाषा के जरिये तभी हमें जिंदगी मिले, जिंदगी का साधन मिले और हमारी जिंदगी चले।

इस अपनी हिंदी भाषा के सौंदर्य को हम देखें। इस पर रीझें और इसे प्यार दें। इसको हम स्वास्थ्य दें। इसको अपना अंग मानें। इसकी रक्षा करें। इस हिंदी को सबल बनाएँ। इसे शक्तिशाली करें। यह और भी शक्तिशाली हो तो हममें भी जोर आए। यह ढीली तो हम भी ढीले। यह विकसित हो। इसी से हमारा नाता। इसी से हमारा उत्थान, इसी की उपेक्षा में हमारा पतन। भाषा ही तो जागर्ति लाए। चेतना को यही तो जगाए। यह हमारे कितने निकट यह हमारी कितनी अंतरग कितनी अभिन्न—यह हमारी भाषा

साध्य और साधन

• •

पढ़ने का समय दो मिनट—

प्रकाशित —आज—साप्ताहिक

'मैं' जिंदा है गोकि उसकी जिंदगी में जान नहीं है क्योंकि वह अव्यक्त जो है। व्यक्त करने में ही जीवन का विकास है इतना तो मानूँ ही पर व्यक्त करने के ढब को भी महत्त्व दूँ क्योंकि सत्य को पाने के लिए अगर असत्य का अवलंबन किया जाय तो यह बेतुकी सी चीज होगी। जो साध्य है वह तो है ही; उसकी सत्ता तो कबूल ही करूँ क्योंकि बिना साध्य के साधन की सृष्टि नहीं होती पर साधन अगर साध्य की ही हत्या कर दे तो फिर साध्य तो रह ही नहीं जाता, साधन भी साध्य के अभाव में निर्जीव हो जाता है। यही आज युग की मूल समस्या है। समस्या को तुम युग से अलग नहीं कर सकते; समस्या तो जोंक की तरह हर एक युग के साथ चिपटी रहती है। आज हो क्या रहा है? वही जो हमारी समस्या है। यानी युद्ध! पर यह हमारा लक्ष्य तो नहीं, उद्देश्य तो नहीं, हमारा आदर्श तो नहीं, पर जो भी हो वह हमारा

कसद जो हो गया है। अगर उसे हम अपनी न कहकर राष्ट्र की
समस्या कहें तो भी बात एक ही है; क्योंकि हमारी सत्ता राष्ट्र से
पृथक् नहीं हो सकी और राष्ट्र हमीं से शक्तिशाली है या दुर्बल।
लेकिन राष्ट्र अपने में क्या है? यदि उसे व्यक्तियों का समूह या
समघट कहें तो बेहतर होगा; यानी वह आज एक अपार व्यक्ति
के रूप और आकार में हमारे संमुख विकसित हुआ है। पहले
पूर्वपुरुष जीवन-निर्वाह के लिए मनुष्य की हत्या करता था। आज
अपनी शक्ति स्थिर रखने के लिए राष्ट्र मनुष्य की सामूहिक रूप में
हत्या करता है जो राष्ट्रीय दृष्टि से क्षम्य ही नहीं प्रशंसनीय भी
करार है। हत्या तो दोनों में हुई—तब भी होती थी, अब भी
हो रही है। भेद तो वैसे नहीं। केवल स्वरूप का परिवर्तन
ही तो हुआ। स्वतंत्रता तो हमेशा अपेक्षित रही पर वास्तविक
स्वतंत्रता कब और किसको कहाँ मिली! यदि स्वतंत्रता की स्थापना
में ही दूसरों का रक्तपात हो तो वह हमें अपने आदर्श से च्युत कर
क्योंकि रक्त के आधार पर—अमानुषिक शैली की भित्ति पर हम
अपनी स्वतंत्रता की स्थापना न करें—हमारा साधन उतना ही पवित्र
अक्षय हो जितना हमारा आदर्श। मनुष्य ने अपने अतिरिक्त मशीन
का निर्माण किया जो एक औजार ही तो है और औजार केवल एक
साधन मात्र है। पर आज वही साधन अपने निर्माणकर्ता का ध्वंस
कर रहा है, यह कैसी अनोखी बात! साधन का निर्माण ही न हो यदि
उसमें इतनी भयंकरता हो कि वह मनुष्य को स्वयं निगल जाय।

पर साधन तो अनिवार्य। बिना उसके हमारा काम तो न चले। ऐसी परिस्थिति में मनुष्य को स्वयं साधन बनना पड़ेगा---क्योंकि लक्ष्य की प्राप्ति तो होगी ही। व्यक्ति के अंदर जो अहिंसा है वही उसका साधन है और साध्य भी, क्योंकि अहिंसा के प्रयोग से हिंसा भी न हो और उद्देश्य भी स्वीकृत हो जाय। यही तो गाँधीवाद है।

होली

•

पढ़ने का समय
दो मिनट—

प्रकाशित
—साप्ताहिक संचार—होली विशेषांक

होली जो आई है तो यह कोई नई बात तो नहीं। जैसे होली है वैसे ही दशहरा भी तो है और फिर दीवाली को क्यों छोड़ो ? आखिर ये हैं क्या ? त्यौहार ही तो हैं, पर वस्तुतः आज त्यौहार कहाँ! त्यौहार होकर भी जो नहीं है। अपने से हम पूछें तो स्पष्ट हो जायगा। क्योंकि त्यौहार को हम अपने से अलग नहीं कर सकते। पर आज जब हम ही नहीं हैं यानी हमारी भावना, हमारी आशा, उमंग—जो सब सूनी है—तो हम में त्योहार कहाँ से प्रविष्ट हो जाएगा। हम हैं तो जरूर पर उस 'हम' का होना सार्थक जो नहीं, इसलिए 'हम' की सत्ता फीकी है। सार्थकता बड़ी चीज है। यही असली नाप-जोख है और यह सार्थकता प्रत्येक वस्तु के साथ लगी है। हममें भी है पर भेद इतना कि उस सार्थकता का दुरुपयोग जो हो रहा है। इस दुरुपयोग को ही हम शोषण कहें। शोषण से ही हीनता है, क्योंकि जो हीन हो गया वह बड़ा कैसे हो सकता है ? पर हीनता की प्रतिक्रिया आ जाने से बड़प्पन

तो नहीं गुजर जाता। बड़प्पन का माद्दा प्रत्येक में है। हम में है इतना ही हम जान लें तो हम बड़े हो जावें। ऐसा तो नहीं कि हमने बड़प्पन नहीं जाना। उसे तो खूब जाना, उसका राग खूब अलापा, कि हम बड़े, क्योंकि हमारे पुरखा, पर-पुरखा, हमारा अतीत जो बड़ा था। पर इसकी ध्वनि ही हमें कैसे आज वही पद दे दे जो हमारा है। प्रश्न तो यह कि आज वह जो हममें नहीं। क्योंकि हम आज को भूल गए। आज को हम चीन्हें तो कल को पा जाएँ। पर हम कल की ओर धाएँ और आज की परख न करें और कल की पुकार मचाएँ तो फिर घूम-फिर कर त्रिकोण में ही महदूद रह जाएँ।

बात तो यह कि युग है बड़ा—सबसे बड़ा, इतना कि वह अपने में हमें, कल को, आज को, सबको समेटे है। उस युग की ओर सचेष्ट होकर या तो वे आवश्यकता से अधिक जूझे हैं या अकर्मण्य होकर हम उदासीन हैं। युग का कदम बढ़ेगा वह रुकेगा नहीं। हमारी दौड़ या होड़ उससे हो। पर हमारी होड़ तो युग से नहीं। वह अपने में ही हो रही है और अपनों से ही हो रही है। फलस्वरूप चार कदम आगे चलें तो वस्तुतः नव कदम पीछे अपने आपको पाएँ।

यही हुआ है। आज मानवता बढ़ी कहाँ? वह तो और भी घट रही है। शेष का परिणाम हमने सोचा? नहीं...शेष हम चाहते नहीं थे पर वह हुआ अनिवार्य जो था और वही जो शेष हो रहा है...उत्कृष्ट, ताजा, नया लहू...उसी की होली है।

नकल

•

पढ़ने का समय
छः मिनट—

प्रकाशित
—संसार-रविवार विशेषांक

यूँ तो मैं बात कम करूँ, पर जब बोलूँ तो बोलूँ ही। मेरी बात की तोल असंभव दीखे लेकिन उसकी बोल तो स्पष्ट है। दृष्टि हो तो दीखे, पर दृष्टि कहाँ ? दृष्टि है, पर नहीं है। दृष्टि तो सब को देखती है, इसी से वह दृष्टि है। हममें भी है, नहीं तो नहीं है। पर परख कहाँ है ? टटोल को ही लेकर चलो क्योंकि ढूँढ़ना तो है ही, पर टटोलने के पूर्व टटोल की चेष्टा हो, तब हरकत आवे। बगैर हरकत जिंदगी कहाँ ? और सबमें तो जिंदगी नहीं है। जो बेजानदार नहीं है वही तो जानदार है पर सच तो यह है कि जान होते हुए भी आज वह बेजानदार है। यह तो मानो। मानकर भी न मानो तो यह किसके मान की बात है। बात तो सच है, सत्य तो अटूट है, उसमें पैबंद नहीं है, जोड़ नहीं, गाँठ नहीं। वह फर्द है, एकाकी है, सबके साथ होते हुए भी नहीं साथ के तुल्य है, नगण्य है। यही नकल है।

× × × ×

इस दुनिया की दो तरह है। एक तरह है–पुरुष, दूसरी तरह है–स्त्री। जो पुरुष है वह स्त्री नहीं हो सकता है, जो स्त्री है वह पुरुष नहीं हो सकता है, लेकिन पुरुष में स्त्री है, स्त्री में पुरुष है। दोनों की सत्ता पृथक् है। फिर भी दोनों एक हैं। अँगरेजी में एक शब्द है 'कोरिलेशन'। पुरुष स्त्री एक दूसरे से 'कोरिलेटेड' हैं बंधे हैं, जुड़े हैं, मिले हैं फिर भी वे अलग हैं। आम को जाने बगैर क्या हम खास को पहुँच सकते हैं? पुरुष आम है तो स्त्री खास है। पुरुष के मार्फत ही स्त्री प्राप्य है पर स्त्री एक गूढ़ भेद है जो पुरुष के 'ध्रू' ही समूची नहीं अभेद हो जाती है। पुरुष साधारण, सपाट, सुलभ। स्त्री असाधारण, टेढ़ी, दुर्गम। पुरुष में जायका मिलता है तो स्त्री में मजा—यह जायका और मजा का स्वाद जो खटमिठा है, न बहुत तीता, न बहुत मीठा, इसी से इसकी पसंद है और जब पसंद की बात कहें तो रुचि की बात आ जाती है और फिर रुचि तो एक नहीं होती। पुरुष की अपेक्षा रुचि स्त्री में अधिक है, यह संदिग्ध है क्योंकि वह असाधारण जो है—यह स्त्री। यह असाधारणता ही तो इस "...त्री' का अमोघ आकर्षण है जिसमें लावण्य का पुंज है और झिलमिलाहट। जो सब स्त्री नहीं, स्त्री की नकल है। यही मेरा कहना है। बेनकल तो इस नकल के अंदर छिपा है।

× × ×

आज कल सब जो एक दूसरे की नकल तो है ही। क्षेत्र में अपवाद नहीं है। राजनीति में इटली जर्मनी की नकल है। जापान, जर्मनी इटली की नकल है पर जर्मनी तो स्वयं नकल है। फिर भारत

की वाईसराई के निमित्त जेनरल वेवल की नियुक्ति में जर्मनी की नकल क्यों दृष्टिगोचर हो ? वैसे नकल की पहचान क्या है ? देखादेखी जो हो, वही परिचय की माप है, पर जो अपने में विशिष्ट है, एक रूप है, कृत्रिम होते हुए भी कृत्रिम न दीख पड़े, यहीं कृत्रिमता की परिधि में अकृत्रिमता हिरा जाय वही तो सच्ची कृत्रिमता है। मस्तिष्क से उपजी कृत्रिमता का यथार्थवाद हृदयहीनता पर ही तो स्थापित है। यहीं उसकी प्रौढ़ता है। कलयुग की कलई में कृत्रिमता का जो ऊँचा स्तर है वह बौद्धिक और यांत्रिक की समष्टि से ही निर्मित है। अचेतन की अशून्यता ही इसकी विलक्षणता है। लेकिन असली विल-क्षणता तो बंदर में है। आदमी तो बंदर नहीं है। पर बंदर से ही उसकी उपज है, बीच की खोई लड़ी को हम छोड़ दें तो। पर आज आदमी अच्छा है कि बंदर ? बंदर व्यक्ति की नकल जितना सही करे उतना ही अधिक उसका बंदरपन है, उसकी सिद्धि है, प्रशंसा है, पर भूलो क्यों, नकल पूर्ण नहीं है—नकल में जो स्वाँग है। बंदर के स्वांग पर पुरुष हँसे पर स्वयं अपना स्वांग तो उसे नहीं दीखे तो अपने ऊपर उसे हँसी कहाँ से आए ?

× × ×

रंग को ही लो तो शेड को कहाँ छोड़ो। प्रकाश के साथ छाया तो आएगी ही। सर्जन तो हुआ पर अकेले तो नहीं हुआ। योग से ही तो हुआ, ऋण से नहीं। तो इस संयोजित रंग और शेड का महत्त्व महज रंग की या सिर्फ शेड की सत्ता से कहीं अधिक है तभी तो मैं दो के धन को मानूँ। तुम कहो तूली

को छोड़ दिया और कैनवस की बात नहीं कही। पर ऐसा तो नहीं हुआ, वह तो है ही जो जरिया है, चीज तो नहीं। वैसे तो आज रंग की प्याली का भी भाव कम नहीं है, पर वह तो अनिवार्य नहीं है। प्याली के अभाव में भी तो काम चल सकता है पर रंग न हो तो चित्र कैसे बने ? यह चित्र क्या है ? दर्पण ही तो है, मूर्ति ही तो है। मूर्ति में आकार तो है पर जीव जो नहीं है। यह निरा शिल्प का परिवर्तित रूप है। शिल्प में तो कभी जान नहीं आए, किसी रूप में वह रहे, तभी तो निर्विवाद है कि चित्र किसी की नकल है। चित्र किसकी नकल है ? यह तो दूसरा प्रश्न है जो पहले से पृथक् है। चित्र किसी की नकल हो सकता है। मुमानियत तो इसकी असंभव है। आजकल नकल की पूरी स्वच्छंदता का ही तो दुरुपयोग है। रूप के रस का सूक्ष्म दर्शन ही तो कला में कलाकार कराए। रूप के आधार पर ही तो वह चले, वही तो प्रस्तुत करने का प्रयास करे, वही तो उसकी प्रेरणा पर निर्दिष्ट उद्देश्य पर वह कैसे पहुँचे ? क्योंकि बेनकल रूप कहीं चित्र में सजीव हो सके। रूप की 'आइडिया' ही तो चित्र में रहे। चित्र में रूप कहाँ ? रूप तो रूप में।

× × ×

कहाँ कहाँ कहूँ ? चित्रपट में भी तो बात वही है। 'शो'। पृष्ठभूमि का केवल अंतर है। यह अंतर कैसा ? अंतर तो सबमें, अंतर का ही तो भेद। अंतर न होवे तो अंतर न रहे। पर अंतर

तो रहे—दृढ़, निश्चित, गूढ़। बेअंतर में समता है, पर समता कहाँ? समता के अभाव में ही जो असमता है वही कुल प्रश्नों की जड़ है, जड़ को बुनियाद कहें। इसी की पकड़ हो, छू हो, अन्यथा इसीसे विद्रोह है, असंतोष है, संघर्ष है। इसमें छीजन आए तो छूट होवे, तब कहीं कोण बनें, पर कोण में सम कहाँ? सम तो तभी, जब दृष्टि एक हो—सम दृष्टिकोण आए। इसी का तो रोना कि दृष्टि एक कहाँ; दृष्टिकोण की विभिन्नता ही तो नजर आए। दृष्टिकोण के प्रकार में ही कथानक का निर्माण है, पर कथानक का केंद्र कहाँ? केंद्र तो कई नहीं, वह तो एक ही। एक स्थल पर जो स्थिर है, वही तो केंद्र है, वही तो प्रेम भी है। प्रेम में उभरन भी तो आए। प्रवाह की तरह फैलाव होवे, सिकुड़न नहीं होवे। जहाँ यह नहीं वहीं विस्तार, जो प्रेम की जान, पर प्रेम कुछ नहीं जब तक प्रकट नहीं है और प्रकट करने के ढंग को ही तो शैली कहें। चाहे साहित्य हो, चाहे अभिनय हो, चाहे जो हो, तरीका तो आए ही। सबमें इसी का तो उलट फेर। ढब ही की तो माप। पर यह अभिनय क्या? विशेष नकल इसे स्वीकार कर लें तो कुछ शेष न रहे। नकल जो यहाँ प्रकट है, चेतन है, व्यापी है। इस नकल में जानबूझ है, भुलावा नहीं है तो नहीं सही, प्रदर्शन का आडंबर जो मौजूद है। इसी से तो नकली वातावरण की जरूरत है। नकल की अधिक से अधिक पूर्णता में ही यहाँ कला की सृष्टि है। पर नकल तो असल नहीं, यहाँ प्रेम भी हो तो अपना नहीं। जो अपना

हो तो उसे अभिनय क्यों कहें और जब वह अभिनय ही हुआ तो बेनकल कहाँ रहा ?

× × ×

दर असल जो हो, वही तो नहीं है। अन्न तो हो, पर उस पर अपना अधिकार न हो। जो हमारा है, वह हमारा न हो। इसे अनौचित्य भी कहें तो न कह सकें। माना, गाय होने से दूध तो मिलेगा, पर दूध में पानी का क्या प्रयोजन ? बनस्पति तो अलग चीज है, उसका शुमार घी में क्यों हो ? मिलावट ही हो तो पुष्टि कहाँ ? जब पुष्टि नहीं तो उम्र कहाँ ? आदमी गिरे तो रुक भी सके, तंदुरुस्ती गिरे तो कहाँ सम्हले ? मौत तो आएगी पर वह जल्दी क्यों आए ? यानी सौदा तो जीवन का हुआ पर पूरे भाव पर तो नहीं हुआ। फिर आज भाव की कौन पूछे ! भाव हो तो युद्ध ही न हो, पर युद्ध जो है तभी तो बेभाव है। भाव चाहे बेभाव, बिकेंगी सभी चीजें और फिर बिकने की कौन कहे ? हाट में तो 'सेक्स' भी बिके। तो जब सत्य ही बिके तो ईमान कहाँ रहे ? फिर न्याय की कौन पूछे ! गिनने बैठो तो उम्र बीते। ४० करोड़ ! आदमी तो कम नहीं पर पुरुष कहाँ ? उत्पादन तो बुरा नहीं, माना, व्यर्थ तो हुआ, पर कंट्रोल कहाँ ? गति तो है पर प्रगति कहाँ ? जीवन आया पर विकास कहाँ ? मैं तभी तो इन्कार न करूँ कि आज दरअसल जो नहीं है, वही चालू जो है और उसे ही नकल कहें।

हमारे साहित्यिक प्रकाशन

सरस्वत[illegible] का[illegible]

चिंतामणि : द्वितीय भाग	:	आचार्य रामचंद्र शुक्ल
आधुनिक काव्यधारा	:	डाक्टर केशरीनारायण शुक्ल
राष्ट्रभाषा पर विचार	:	पं० चंद्रबली पांडे
तसव्वुफ अथवा सूफीमत	:	,,
आचार्य रामचंद्र शुक्ल	:	श्री शिवनाथ एम० ए०
हिंदी उपन्यास	:	श्री शिव नारायण एम० ए०
नजर	:	कमला बाई तिलक एम० ए
जौहर : महाकाव्य	:	पं० श्यामनारायण पांडे
विक्रमादित्य : महाकाव्य	:	श्री गुरुभक्त सिंह
बापू और भारत	:	पं० कमलापति शास्त्री
बापू और मानवता	:	,,
गर्जन	:	पं० भगवतीशरण उपाध्याय
पत्थर की देवी : उपन्यास	:	श्री कृष्णकुमार
* अष्टदल : कहानी संग्रह	:	प्रसाद परिषद द्वारा पुरस्कृत
* घन आनंद आनंदघन	:	पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, एम०
गहरि गहरि नदियाँ गहरानी	:	इंद्र शंकर मिश्र एम० ए०

* प्रसाद परिषद द्वारा प्रकाशित :

प्राप्ति स्थान

नन्दकिशोर एंड ब्रदर्स : [illegible]